वरेण्य कवि !

राजनीतिज्ञों ने तुम्हारा सम्मान करना चाहा और तुम्हें राज्य-सभा में स्थान दे दिया !
शिक्षाविदों ने तुम्हारी साहित्य-साधना से प्रसन्न होकर तुम्हें किसी विश्वविद्यालय का कुलपति बना दिया !
पर मैं अकिंचन ! मेरा भी तो धन कलम ही है। मैं क्या दूँ ?
क्या तुम पर की गई यह निर्वैर विवेचना ही तुम्हें स्वीकार न होगी ?

—लेखक

*

"जिसकी मसि में आग और आंखों में पानी
पानी में भी आग, और आगी में पानी,
फिर भी जिसका रक्त अभी पानी न बना है,
हिम की जड़ता में पल कर शीतल न बना है।"

दो शब्द

आज से दो वर्ष पूर्व अपनी कृति 'हिन्दी साहित्यानुशीलन' के बहाने 'दिनकर' से लेखक का प्रथम परिचय हुआ था। लेखक की श्रद्धा का पात्र कवि पहले से ही रहा था। लेखक के 'हिन्दी साहित्यानुशीलन' में दिनकर का मूल्यांकन इस बात का साक्षी है।

पर, इन दो वर्षों ने बहुत कुछ अन्तर ला दिया है। 'दिनकर' साहित्य और राजनीति के क्षेत्र से हटकर शिक्षा के क्षेत्र में जा बैठे हैं। पर, लौट-लौट कर साहित्य में उनका पदार्पण न आज तक रुका है, न रुकेगा। उस पर कोई 'दल' या 'पद' हावी नहीं हो सकता।

और लेखक! वह वहीं का वहीं है। उसकी साधना लेखनी में ही सीमित है। वही उसका ध्येय है।

चीनी आक्रमण के समय दिनकर के पुनर्जागरण पर लेखक की निष्ठा अपने मूल्यांकन और कवि के कृतित्व पर अधिकाधिक दृढ़ हो गई। 'उर्वशी' के प्रकाशन ने कई आलोचकों को चौंका दिया था। वह उसमें संगति न खोज पाए थे। पर, 'परशुराम की प्रतीक्षा' ने एक दूसरे वर्ग को चौंका दिया। 'दिनकर' ने उसमें 'विश्वशान्ति' के तथाकथित प्रयत्नों का उपहास उड़ाकर, भारतवासियों और यहाँ के नेताओं को 'अहिंसा' का गलत रूप उतार फेंकने का आह्वान किया था। उसने 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' की नीति की घोषणा की थी। प्रगतिशील कहे जाने वाले आलोचकों के एक दल ने चीन के विरुद्ध इस नव-जागरण को 'आस्था-विनाश' का नाम दिया। उधर अहिंसा के पुजारियों ने भी कवि को अहिंसा-विहीन दृष्टि से देखा। पर इस लेखक को लगा कि कवि अपने सच्चे रूप में सामने आ गया है।

युग की पुकार सुनकर जो अपने कल्पना-लोक को एक चादर के समान झाड़कर उठ खड़ा हो, और युग के यथार्थ की ललकार को सुनकर जिसकी आयु भी बाधा न दे सके, क्या वह सच ही 'जनकवि' नहीं है ?

महाकवि और जनकवि नाम देने में विवाद हो, लेखक को यह अभीष्ट नहीं। लेखक की दृष्टि में सत्य यह है कि **जनकवि तो हो ही वह सकता है जो महाकवि हो, किन्तु हर महाकवि जनकवि नहीं कहला** सकता। 'जनकवि' नाम हर प्रगतिवादी कवि को भी नहीं दिया जा सकता। **सच्चा जनकवि तो वही होता है, जो काव्य और युग के मूल्यों में अन्तर्विरोध को स्वीकार न करे, प्रत्युत युग को ही काव्य का विषय बना दे, परन्तु काव्य के मूल्यों को अक्षुण्ण रखकर !**

और दिनकर ने यही तो किया है। 'आकाशवाणी' से स्वतन्त्रता का प्रथम गीत गाने वाला कवि स्वतन्त्रता पर आँच आते ही यदि सांस्कृतिक चिन्तन को छोड़कर फिर से युग-चारण का वेश धर आया, तो केवल इस लिए कि वह युग और काव्य को विभाज्य स्वीकार नहीं करता।

युग की आस्था का अन्धानुकरण भी 'जनकवि' का कार्य नहीं है। सोये युग को चेताना, जागते को बढ़ाना, और बढ़ते का निर्देशन करना भी तो उसी का कार्य है। 'उर्वशी' जन-जीवन के निर्देशन का प्रयास था। पर, जन-मन को ठीक राह पर डालने के लिए वह 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में एक समान ही सजग रहा है।

हिन्दी को प्रसाद, पन्त, महादेवी और दिनकर के रूप में चार ऐसे महाकवि प्राप्त हुए हैं, जिनमें से प्रत्येक एक-दूसरे से अधिक ज्ञान-पिपासु दीखता है। पर ऐसा कहना शेष दो कवियों के प्रति निष्ठा की हीनता न गिना जाना चाहिए कि **प्रसाद** और **दिनकर** के अध्ययन का क्षेत्र कुछ अधिक व्यापक रहा है, एवं उनका चिन्तन अधिक विशाल क्षेत्र में बढ़ा है। भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुशीलन इन्होंने अत्यन्त व्यापक रूप में किया है।

काव्य के समान ही संस्कृति और इतिहास के क्षेत्र में भी इन दो महान् कवियों और चिन्तकों में महान् अन्तर है। पर, विचारक और

चिन्तक का स्वतन्त्र अस्तित्व ही इस अन्तर पर आधारित होता है। 'प्रसाद' को यदि हम हिन्दी साहित्य और भारतीय इतिहास-चेतना का ब्रह्मर्षि कह सकते हैं, तो 'दिनकर' इन दोनों क्षेत्रों में राजर्षि ठहरते हैं। ब्रह्म और क्षत्र में से बड़े का निर्णय वेदों से अब तक नहीं हो सका है।

अतः दिनकर के कवि रूप को समझने के लिए हम उसके लिखे विशाल पर्यालोचन—'संस्कृति के चार अध्याय'—को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते। वह उसके काव्य का अभिन्न अंग है। गद्य के उसके अन्य साहित्य की विवेचना को हाथ न लगाकर भी लेखक इस कृति का संक्षिप्ततम पर्यालोचन करने या परिचय देने का लोभ रोक न सका।

कवि को और पाठकों को यह कृति कहां तक पसन्द आती है—इसका परिज्ञान तो काल के व्यवधान से ही होगा। आलोचक और लेखक तो महज इतना ही कर सकता है कि वह तटस्थ काव्य-रसिक की भाँति किसी कवि की सम्पूर्ण काव्य-चेतना को पकड़ने का यत्न भर करे।

धन्यवाद की बात! प्रथम तो जनकवि को ही धन्यवाद देना है कि उसने अपना समग्र मुद्रित-अमुद्रित साहित्य प्रस्तुत करके साथ अपना अमित स्नेह भी दिया।

फिर हैं अपनी ही सहचरी। उन्हें तो कदम-कदम पर उनके बलिदानों, उनकी प्रेरणाओं और उनके प्रोत्साहन के प्रति धन्यवाद देना होगा।

उन आलोचकों को भी धन्यवाद दूँ कि जिन्होंने 'दिनकर' पर विशाल साहित्य रच डाला है। पर, यहां मुख्यता लेखक ने उस दृष्टिकोण को दी है, जिसे **तटस्थ और सहानुभूतिमय पर्यवेक्षण** कहते हैं।

'पुरी प्रिंटर्स' के स्वामी रणवीर जी अपने भाई ही हैं। उनसे न जाने कितना कार्य लेना है। अतः उन्हें कभी इकट्ठा ही धन्यवाद दूँगा।

७/३, अशोक नगर, नई दिल्ली
१-७-६४

—लेखक

विषय-सूची

महाकवि या जनकवि

बातचीत के प्रसंग में लेखक ने पूछा, "कवि! आपको 'महा-कवि' कहलाना पसन्द है या 'जनकवि'?

कवि ने पूछा, "महाकवि आप किसे कहते हैं?"

लेखक का उत्तर था, "जिसका कृतित्व महान् हो!"

कवि ने सोचकर कहा, "पर इस अर्थ को कितने परम्परा-वादी स्वीकार करेंगे?'

लेखक ने कहा, "तभी तो मैंने दूसरा प्रस्ताव रखा था। पर, उस पद तक उतरना कौन चाहेगा?"

कवि प्रसन्न थे, "यदि इसे उतरना कहते हैं तब तो यही नाम पसन्द है।"

*

उसने अब तक जाना केवल आग उगलना,
क्या जाने वह, वही आग युग-कल्मष हरती।
स्रष्टा केवल सृष्टि रचाता, वही ध्येय है,
सृष्टि स्वयं विस्तार आप अपना कर लेती॥

१

जीवन और व्यक्तित्व

भारत के यौवन का प्रतीक,उसकी जलती आग का सजग प्रहरी,उसके प्रकाश का सतर्क मशालची, और उसकी भावनाओं का अन्तर्यामी 'दिन-कर' आज, अपने जीवन के तीसरे चरण में कदम रखकर भी, किसी युवक से अधिक युवा है और उसकी वाणी में किसी सिंहनाद से अधिक तीव्रता है। उसके यौवन की तीव्रता हमें अब भी उसके स्वरों में फिर से देखने को मिली है। उसकी आंखों की गहरी लाली जवानी के मद से स्थिर हो गई है। लगता है वह आयु को पार करके जवानी को जीत चुका है, और, इसीलिए, वह अपनी वाणी के तारों में उसे जकड़े बैठा है। उसकी कविता के स्वर रुक-रुक कर भले ही बढ़ें, और वह अज्ञातवासों में भले ही नई प्रेरणा खोजने का प्रयास करे, उसके स्वर जब भी निकलते हैं, उनकी गहराई और तेज़ी पहले से कुछ अधिक ही होती है। लगता है आयु के साथ-साथ उसका यौवन बढ़ता ही जा रहा है।

सन् १९०८ का वर्ष भारतीय राजनीति में भले ही कोई महत्वपूर्ण घटना लाने वाला न रहा हो, पर एक देन वह अवश्य दे गया। किसी एक सुहाने दिन ने सूर्य के उदय के साथ एक नया सूर्य 'दिनकर' हमें दे दिया। तब से छप्पन वर्ष बीत गए और अनेकों गर्मियां और सर्दियां आईं और चली गईं, परन्तु इस नये दिनकर का तेज लगभग स्थिर सा ही रहता आया है। ज़मींदारों के अत्याचारों के बोझ से दबे हुए विहार के एक छोटे किसान परिवार में जन्म लेकर भी इसका प्रकाश उस कुटिया की दीवारों के बीच ही सीमित न रहा। बालक होते हुए, और घर से कुछ दूर के विद्यालय में कठिन साधना करते हुए, भी इस

बालक को कोई कठिनाई अपने पथ से विचलित करने में समर्थ न हुई। अभी बालक ने मां का दूध भी न छोड़ा था कि दो वर्ष की अल्प आयु में ही पिता का साया सिर पर से उठ गया। मां अकेली थी और परिवार का बोझ भारी था। बच्चे तीन थे, पर तीनों दुध-मुंहे। भरण-पोषण के लिए कोई और चारा न था। फिर भी, क्षीणतम साधनों और आर्थिक तंगी में रह कर भी मां ने जैसे-तैसे पाला। अन्य भाई जिस तरह भी बढ़े, कवि दिनकर का विकास जैसे एक योजनाबद्ध रूप में होने लगा।

उसके प्रेरक एक अत्यन्त प्रसिद्ध आर्य विद्वान् और संस्कृति-प्रेमी-राजगुरु श्री धुरेन्द्र शास्त्री थे। आरम्भिक वर्षों में ही कवि को साधना का कठोर जीवन बिताना पड़ा। नियंत्रण और अनुशासन के साथ ही साथ कवि को शिक्षा भी राष्ट्रीयता, स्वदेश-प्रेम, स्वभाषा-प्रेम और सादे जीवन की मिलने लगी। जिसका प्रेरक स्वयं सादगी और कर्मण्यता का प्रतीक रहा हो, और जो स्वयं हर प्रभाव को अत्यधिक तीव्रता से ग्रहण करने वाला रहा हो, उसका जीवन क्यों न साधना का जीवन बनकर चमक उठता? विद्याभ्यास के लिए कुछ मील पैदल चलना कठिन नहीं है और न ही अनुचित! किन्तु जब एक नन्हें बालक को बिना जूतों के इतनी दूर चलना पड़े, और बरसात या आंधी उसके लिए बाधा न बन सकें, तब शिक्षा का अर्थ और महत्व कुछ और हो जाता है।

बारह वर्ष के इस बालक ने प्रथम बार देश के तत्कालीन नये और सबसे बड़े नेता गांधी जी के दर्शन किए। मौलाना शौकत अली के साथ वे बरौनी स्टेशन से गुज़र रहे थे। कवि को मीलों चल कर उनके स्वागत के लिए जाना पड़ा। बालक के जीवन में यह एक नया मोड़ लाने वाली घटना सिद्ध हुई। उस दिन के लगाए नारे उसकी शिक्षा की प्रथम परीक्षा थे। उसे क्या पता था कि एक दिन उसे इन नारों की जगह अपनी कविता का घोष घर-घर में और जन-जन तक पहुंचना होगा। उस दिन से कवि ने अपने सुन्दर कंठ का उपयोग साधारण गीतों के लिए न करके

राष्ट्रीय गीतों के लिए करना आरम्भ कर दिया। आर्यसमाज का जिस पर भरपूर प्रभाव हो, और दयानन्द के सिद्धान्तों को जिसने अच्छी तरह मथा हो, उसके कंठ में दूसरों के बनाए गीत कब तक जमते। कुछ ही दिन में अपना रचा पहला गीत उसके कंठ से फूट निकला। चौदह वर्ष का यह बालक सन् १९२२ में अपनी पहली रचना देने में समर्थ हुआ। तब से विद्यार्थियों में और बाल-कवियों के समाज में पढ़ी जाने के लिए अनेक रचनाएँ उसकी कलम से निकलने लगी। पर तब से दो वर्ष बाद, सन् १९२४ में, वह पहला दिन आया, जब उसने अपनी रचना को किसी पत्र में छपा हुआ और समादृत पाया। 'छात्रसहोदर', 'छात्र', और 'विश्वामित्र' में उसकी रचनाएं उत्तरोत्तर प्रकाशित होने लगीं।

सन् १९२८ ई० में उसने मैट्रिक पास की। तब तक वह एक संघर्षमय जीवन देख चुका था। व्यक्ति-जीवन ही नहीं राष्ट्रीय जीवन में भी उसने संघर्ष ही संघर्ष अनुभव किए थे। उसने देश की समस्याओं को कुछ इतने व्यापक रूप में देखा कि अपनी समस्याएं उसे भूलती सी नज़र आईं। आरम्भ से ही उसके काव्य ने जन-गीत गाए थे। वह इस समय तक एक अच्छा कवि प्रसिद्ध हो चुका था। साहित्यिक आन्दोलनों की अखाड़ेबाज़ी भी उसने देख ली थी। मैट्रिक पास करने के वर्ष में ही उसे मुजफ्फरपुर में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन का अधिवेशन, श्री पद्मसिंह शर्मा के सभापतित्व में, देखने को मिला। यहीं पर उसे छायावाद के समर्थकों और विरोधियों का संघर्ष भी देखने को मिला। राष्ट्रीय आन्दोलनों में बढ़ कर भाग लेने वाले हिन्दी कवियों की कविताओं ने उसे आरम्भ से ही प्रभावित किया था। इस सम्मेलन में उसे नवीन जी आदि अनेकों राष्ट्रीय-कवियों के दर्शन हुए थे। दर्शन उसे एक नयी प्रेरणा के रूप में मिले और वह कवित्व के एक नये जोश के साथ उठा। अगले ही वर्ष उसकी प्रथम रचना एक लघुकाव्य के रूप में, 'प्रणभंग' नाम से, प्रकाशित हुई। उसके अपने कथन के अनुसार यह रचना मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथवध' के अनुकरण पर लिखी गई थी। पर यह रचना उस

समय के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य शुक्ल को अत्यधिक पसंद आई, और उन्होंने इसका उल्लेख अपने 'इतिहास' में किया। कवि का उत्साह इसके बाद बढ़ता ही गया।

जीवन की इस पृष्ठभूमिका पर बढ़ने वाला कवि छप्पन वर्ष की इस दौड़ में काफ़ी दूर निकल आया है। उसकी गृहस्थी भी खूब जमी है, और जीवन का सम्मान भी उसे खूब मिला है। लक्ष्मी का नाता सरस्वती से कुछ विरोध का ही रहता आया है, पर तो भी कवि ने इस विरोध को कुछ कम ही रखा है। वह आज स्वयं अपनी कृतियों का प्रकाशन करता है। कविता के वल पर हमारे देश में जीवन-यापन की परम्परा अभी नहीं चली। पर फिर भी, जिन कुछ कवियों ने इसमें सफलता पाई है, उनमें **दिनकर** एक है। उसकी सफलता का श्रेय केवल इतने में ही नहीं है। जीवन में पत्नी द्वारा सह-धर्मिणी व्रत को निभाने के वाद भी, सरस्वती की उपासना में उसे एकाकी ही जुटना पड़ा है। इस पर भी उसकी इस साधना में मूक योगदान उसके जीवन-साथी का भी रहा ही है। इस सुन्दर गृहस्थी ने कुछ सुन्दर परिणाम भी उपस्थित किए हैं। परन्तु, कवि ने अपने को उस मामले में अधिक उलझाया नहीं है। कर्ममार्ग के सच्चे पथिक की भांति वह केवल अपने कर्त्तव्य को पूरा करने तक ही आगे बढ़ा है। कर्त्तव्य में कमी न रहे, परिणाम चाहे जो कुछ भी रहे।

भारत की स्वतंत्रता ने अपने सपूतों को सम्मान देते हुए भारत के यौवन के इस सजग प्रहारी को भी भुलाया नहीं। पिछले अनेक वर्षों में यह कवि सच्चे अर्थों में 'राष्ट्र का प्रतिनिधि कवि' स्वीकार किया जाता रहा है। विश्व के अनेक सम्मेलनों में उसे भारत और भारतीय साहित्य के प्रतिनिधित्व का अवसर मिला है। इसके कंठ का माधुर्य, तेज और घोष अव भी कम नहीं पड़ा है। इसकी विशाल आंखों ने कदाचित् जगत् और साहित्य की विशालता को देख कर ही अधिक विस्तार ग्रहण कर लिया है। उसके ललाट पर तनी रेखाएं जीवन और जगत् के प्रति उसकी सतर्कता को बता रही हैं। उसके विशाल साहित्य में से ऐसा बहुत कम

है, जिसे उच्च साहित्य की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। फिर भी कुछ काव्य ऐसे हैं, जिन्होंने उसे सर्वाधिक सम्मान दिया है। इसी बीच 'दिनकर' की कुछ और कृतियां सामने आई हैं। इनमें से एक में तो कवि के काव्य की सूक्तियाँ भर संचित कर दी गई हैं। यह कार्य भी आवश्यक ही था। दूसरे में कवि ने अंग्रेज़ी के प्रसिद्ध उपन्यास लेखक और कवि श्री डी० एच्० लॉरेन्स की कविताओं में व्यक्त भावों को लेकर अपनी स्वतन्त्र भावनाएं प्रकट की हैं। इन्हें छायानुवाद कहा जा सकता है। पर इससे कवि की भावधारा का मेल होने से इनमें नवजीवन सा आ गय, है। तीसरी और महत्वपूर्ण कृति है—"कोयला और कवित्त्व" इसमें सभी रचनाएं लघु-मुक्तक हैं। ग्रन्थ का नाम जिस कविता पर है, वह अन्त में दी गई है। यह विचारप्रधान कविता है ही, दीर्घकाय भी है।

'हुंकार' से इन नये काव्यों तक की प्रौढ़ कविता यात्रा में केवल 'रसवंती' और 'उर्वशी' नाम के दो काव्य ही उसने ऐसे लिखे हैं, जिन्हें शृंगार-चेतना का प्रतीक कहा जा सकता है। पर, सच यह है कि 'उर्वशी' का सम्बन्ध श्रृंगार से न होकर जीवन से है। अन्यत्र सभी जगह वह 'अनल' का कवि रहा है। 'उर्वशी' में भी यह अनल ही प्रधान रहा है। अन्तर यही है कि कभी अनल का दाह उसमें तीव्र हुआ है, और कभी उसका प्रकाश। 'दिनकर' जिस सूर्य का प्रतिनिधि है, उसमें भी दाह और प्रकाश वाला अनल ही तो छिपा है। इसलिए 'हुंकार', 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उसके इस जाग्रत् अनल के पूरे दर्शन कर लेने के बाद भी, उसके मुख से एक नया अनल-राग सुनने की इच्छा जन-मन में अभी बाकी है। वह इस स्वर के अनुसंधान में लगा हुआ है, और स्वयं उस नाद की प्रतीक्षा कर रहा प्रतीत होता है। उस नाद का स्वर तीव्र होगा या गहरा, यह तो समय ही बताएगा। किन्तु, हम उस नाद की प्रतीक्षा करेंगे ही। कवि का जीवन-दर्शन युग के लिए मशाल का काम भी देता है और फोटो का भी। इस प्रकार के दोहरे लाभ को पाने के लिए युग सदा उत्सुक होकर बाट जोहता है।

२

कवि पर पड़े प्रभाव

काव्य की मुख्य-धारा—दिनकर के काव्य की मुख्य धारा कौन-सी है ? वह जो 'हुंकार', 'सामधेनी', 'कुरुक्षेत्र', 'नीम के पत्ते', 'दिल्ली', और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में बहती है, अथवा वह जिसका शीतल, मन्द, सुगन्ध प्रवाह 'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत', और 'उर्वशी' में है ? या फिर, मुख्य धारा वह है जो 'रेणुका' में फूटी थी, और जो बाद में 'इतिहास के आंसू' में बह कर विशाल आलोचनात्मक ग्रन्थ 'संस्कृति के चार अध्याय' में समुद्र बन कर लहरा रही है ? यदि कला की निरपेक्षता की दृष्टि से देखें तो 'रसवन्ती' और 'द्वन्द्वगीत', दिनकर के, ये ही दो काव्य-संग्रह हैं, जिनमें प्रधानता निरपेक्ष आनन्द को प्राप्त है । 'नील-कुसुम' की कविताएं भी अधिकतर निरपेक्ष आनन्द को अपना लक्ष्य मानती हैं । किन्तु, उसके तीसरे खंड की सभी कविताएं सापेक्ष एवं सोद्देश्य हैं । कुछ ऐसी ही बात दिनकर-साहित्य के शिखर 'उर्वशी' के संबंध में भी है । 'उर्वशी' के तीसरे अंक तक ऐसा लगता है कि कवि संसार को कोई उपदेश या सन्देश देना नहीं चाहता । जैसे वह काम की बहुरंगी गुत्थियों को स्वयं समझने के लिए कविता की रचना कर रहा है । किन्तु, तीसरे अंक में ही जहां उर्वशी निष्काम आनन्द की व्याख्या करने लगती है, वहां कवि की सोद्देश्यता हमारे समक्ष आ जाती है । फिर, चतुर्थ और पंचम अंकों में तो कवि का उद्देश्य बिलकुल स्पष्ट हो जाता है । औशीनरी और सुकन्या सती नारियां हैं, जो पति के सुख से अलग सुख की कामना नहीं करतीं, जिनका ध्येय आनन्द नहीं सेवा है, और जो भोग नहीं त्याग की प्रतिमाएं हैं । इन दो महानारियों के सामने आने से ही उर्वशी का तेज कुछ मद्धिम

सा हो जाता है। लगता है जैसे उर्वशी को औशीनरी और सुकन्या से कुछ हीन बताना कवि का ध्येय हो गया हो। इस प्रसंग में दिनकरजी का वह पद्यमय-पत्र स्मरणीय है, जिसे उन्होंने 'उर्वशी' काव्य पूरा करने पर पं० सुमित्रानन्दन पंत को लिखा था। उस कविता में दिनकर जी स्वयं लिखते हैं :

जो अधिक रसिक होंगे वे तो इससे भी खिन्न उठेंगे रो,
जो त्रिया अन्त में आती है, वह क्यों सब पर छा जाती है ?
पर, मैं क्या करूं ? सती नारी आती जब लिये प्रभा सारी,
करतब वह यही दिखाती है, सब के ऊपर छा जाती है।

काव्य की सोद्देश्यता—अतएव, यह कहा जा सकता है कि दिनकरजी निश्चित रूप से एक संदेशवाही कवि हैं। कदाचित् वे कलाकार कम और विचारक अधिक हैं। उनमें पच्चीकारी की धीरता नहीं है। वे छैनी-हथौड़ी से कम, निहाई और हथौड़े से अधिक काम लेतें हैं। दिनकर-काव्य की शोभा कुल्हाड़ी की चोट है। रंदा चला कर बारीकियां उत्पन्न करने की ओर उनका ध्यान कम जाता है। यद्यपि, उर्वशी काव्य में जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण हुए हैं, उन्हें देखते हुए यह बात कोई भी सुधी व्यक्ति नहीं मानेगा कि दिनकरजी कलाकार की चरम योग्यता से हीन हैं। दिनकर-काव्य की मूल प्रेरणा योद्धा की प्रेरणा है, अन्याय पर चोट करने की प्रेरणा है, जीवन को प्रभावित करने और उसे परिवर्तित करने की प्रेरणा है। इसे ही हमने **अनलोपासना** कहा है। जिस कवि की मूल प्रेरणा इस प्रकार की हो, वह अवश्य ही कलाकारों की श्रेणी में बैठाया जाय, तो बुलबुलों के झुण्ड में बाज़, और चौकड़ी भरने वाले आनन्द-विभोर मृगों के दल में सिंह, सा लगेगा। कवि और कलाकार, एक होने पर भी, प्रकृति से कुछ भिन्न होते हैं। दिनकर एक स्थल पर लिखते हैं कि व्यास, वाल्मीकि, तुलसीदास और इकबाल कवि हैं, किन्तु कालिदास, सूर, विद्यापति और रवीन्द्र कलाकार हैं। यह एक प्रकार का स्थूल वर्गीकरण है; क्योंकि प्रत्येक कलाकार कवि होता है और प्रत्येक कवि

कलाकार। किन्तु, दिनकर का वर्गीकरण यदि स्वीकृत किया जाय, तो स्वयं दिनकर का न्यायोचित स्थान रवीन्द्र नहीं, इकबाल के साथ होगा; सूरदास और विद्यापति नहीं, तुलसीदास और भूषण के साथ होगा; कालिदास नहीं, व्यास और वाल्मीकि के साथ पड़ेगा। कवि और विचारक की मूल वृत्ति—आत्म-रमण—एक ही होती है। कवि और कलाकार का मुख्य अन्तर अन्तर्मुखता और बाहिर्मुखता में है।

निरपेक्ष आनन्द की वकालत—इधर हाल के कई निबंधों में दिनकर ने सोद्देश्य काव्य की आलोचना की है, और इस बात पर बल दिया है कि कविता का मुख्य उद्देश्य **आनन्द** है। उनके "कोयला और कवित्व" नामक नव-प्रकाशित काव्य संग्रह में "कोयला और कवित्व" नाम की जो लंबी कविता है, उसमें भी कवि का भाव यही है कि कविता की प्रक्रिया निष्काम या निरपेक्ष आनन्द की प्रक्रिया है। किन्तु, दिनकर-काव्य को यदि आदर्श माना जाए, तो उस कविता पर दिनकर के अपने ही काव्य-विषयक सिद्धान्त चरितार्थ नहीं होते। दिनकर-काव्य आनन्दमय होने के साथ-साथ विचार और ओज से पूर्ण है, तथा उसे पढ़ कर हम केवल आनन्दित, चकित अथवा विस्मित हो कर नहीं रह जाते, प्रत्युत, हमारे भीतर कर्म की भावना भी जागृत होती है, अन्याय के विरुद्ध क्रोध का आवेश भी उत्थित होता है, और समाज में आमूल परिवर्तन लाने की भावना भी हमारे भीतर ज़ोर पकड़ती है। दिनकर की कविताएं सहज, स्वतः स्फूर्त और स्वाभाविक हैं। उनके काव्य-विषयक सिद्धान्त उपार्जित दीख पड़ते हैं। अतएव, हम उनके व्यक्तित्व के उसी रूप को प्रामाणिक मानते हैं, जो उनकी कविताओं से निर्मित हुआ है; उस रूप को नहीं, जो उनकी विद्वत्ता से उत्पन्न हुआ है।

प्रभाव और पृष्ठभूमि—बचपन से दिनकर पर पड़े प्रभावों में से कोई भी ऐसा नहीं था, जो उन्हें निरुद्देश्य गायक अथवा केवल सौंदर्य का उपासक कलाकार बनने की प्रेरणा देता। उनका जन्म न तो पर्वत की गोद में हुआ था, जहां प्रकृति अपनी ही शोभा में आप निमग्न रहती है,

और न ही किसी धनी परिवार में, जहां चिंताएं झाँकती तक नहीं ! वे एक अत्यन्त साधारण कृषक के घर में जनमे । उनका गांव भी निर्धन और धूलि-धूसरित था । अपने बचपन के दिनों में दिनकर ने अपने देहात में अनेक बार दुर्भिक्ष, महामारियां और ग़रीबों पर ज़मींदारों के अन्याय देखे थे। उन्होंने अपनी ग्राम-पाठशाला के गुरुजी को दुर्भिक्ष से पीड़ित हो कर महुए के फलों के छिलके खाकर जीवन-यापन करते देखा था । दिनकर का जन्मस्थान गंगा के उत्तरी तट पर पड़ता है । कहते हैं कि उनके गांव में गंगा यों भी समुद्र के समान दीखती है, परन्तु बाढ़ के दिनों में तो वह पूर्णरूप से भयावनी हो उठती है । वे यह संस्मरण भी सुनाते हैं कि जब बाढ़ के दिन आते थे, तब गंगा गावों में प्रवेश कर जाती थी, और वे बाढ़ का भयानक दृश्य बड़े ही आनन्द से देखा करते थे । गांव तो टापूमात्र बन जाता था । फसलें डूब जातीं थीं । मक्की के पौधे गले तक जल में डूबे, सूख जाने या सड़ जाने को तैयार दीखते थे । और, किसान खड़ी फसलें काट कर अपने ढोर-डंगरों को खिला देते थे । फिर ऐसा होता कि कई घरों में चूल्हे नहीं जलते, और हमारा 'दिनकर' पड़ोस के भूखे बच्चों को देख कर रो देता था ।

सामाजिकता से आरम्भ—बाढ़ से घिरे गांव का जीवन अत्यन्त कठोर और दुखदायी होता है । क्या प्रकृति के ये दृश्य इस योग्य हो सकते हैं कि वे निरुद्देश्य आनन्द की प्रेरणा सजग करें ? कोई आश्चर्य नहीं कि इन सब प्रेरणाओं से ही दिनकर की कविता सामाजिकता से पूर्ण हो उठी । दिनकर की जो पहली कविता सन १९२४ ई० में जबलपुर से निकलने वाले "छात्र-सहोदर" नामक पत्र में छपी थी, वह विधवाओं की समस्या को लेकर लिखी गयी थी । उसी वर्ष उनकी दूसरी कविता कलकत्ता से निकलनेवाले हिन्दी साप्ताहिक "विश्वमित्र" में छपी थी । उसका विषय भी सामाजिक ही था—**हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य ।**

शिक्षा—बचपन का संस्मरण सुनाते समय दिनकरजी यह भी कहते हैं कि तब वे पढ़ते भी थे और गाय-भैंस भी चराते थे । प्राथमिक

कक्षाओं तक वे गाँव की ही पाठशाला में पढ़ते रहे। किन्तु प्राथमिक शिक्षा समाप्त होने तक देश में असहयोग आन्दोलन का आरम्भ हो गया। अतएव, दिनकर ने सरकारी स्कूल में न जाकर, आगे पढ़ने के लिए, राष्ट्रीय विद्यालय में नाम लिखाया। दिनकर के भीतर राष्ट्रीयता की जो उमंग है, उसकी नींव इसी राष्ट्रीय विद्यालय में पड़ी थी। इसी विद्यालय में उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम-एकता का भी पाठ पढ़ा, और इसी विद्यालय में हिन्दी की राष्ट्रीय कविताओं से भी उनका परिचय हुआ।

माध्यमिक शिक्षा के बाद उनका नाम मोकामाघाट के एक विद्यालय में लिखवाया गया। इस विद्यालय तक जाने में दिनकरजी को नित्य ही स्टीमर पर गंगा पार करनी पड़ती थी, और स्टीमर पकड़ने के लिए घर से लेकर घाट तक कभी तीन मील और कभी छह मील की दूरी तय करनी पड़ती थी। इन छः मीलों में से एक-दो मील तक तो बिलकुल रेत ही थी, जिस पर गर्मी के दिनों में उन्हें कभी-कभी नंगे पाँव भी चलना पड़ता था। मोकामाघाट में पढ़ते समय उन्होंने बाढ़ के दिनों में गंगा का और भी उद्वेलित और भयानक रूप देखा, और एकाध बार ऐसी परिस्थिति का भी सामना किया जब स्टीमर ही डूबने लगता था।

मैट्रिक परीक्षा दिनकर ने सन् १९२८ ई० में पास की। इस समय तक उनका जीवन बिलकुल देहाती था। साहित्यकारों और विद्वानों की संगति उन्हें प्रायः प्राप्त नहीं थी। कविताएं तो उनकी तब तक अनेक पत्रों में छपने लगी थीं, जिनमें से पटना के 'देश' और 'महावीर', तथा कलकत्ता के 'विश्वमित्र', 'सेनापति', 'नारायण', 'श्रीकृष्ण संदेश' और 'सरोज' प्रधान थे। किन्तु, छायावादी आन्दोलन के संपर्क में अब तक भी वे नहीं आये थे। सांस्कृतिक आन्दोलनों में भी केवल **आर्य-समाज** ही ऐसा आन्दोलन था, जो उन्हें प्रभावित कर सका था। इन्हीं दिनों उन्होंने 'सत्यार्थप्रकाश' का अध्ययन किया, और वे उसकी शिक्षाओं को अपने विचार और चरित्र में उतारने लगे। १९२८ ई० का वर्ष इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है कि उस वर्ष वे 'अखिल भारतीय हिन्दी

साहित्य सम्मेलन' के अठारहवें वार्षिक अधिवेशन में सम्मिलित हुए, जो बिहार प्रान्त के अन्तर्गत मुजफ्फरपुर में हुआ था, और जिसके सभापति पंडित पद्मसिंह शर्मा थे। इसी सम्मेलन में छायावादी आन्दोलन का ज्ञान दिनकरजी को कुछ निकट से हुआ।

विस्तृत दायरा—कालेज की शिक्षा प्राप्त करने के लिए दिनकरजी पटने में सन् १९२८ ई० से रहने लगे। यह समय उनके जीवन का अत्यंत प्रमुख काल कहा जा सकता है। १९२८ से लेकर १९३२ ई० तक पटने रह कर उन्होंने साहित्य और साहित्यिकों से भरपूर परिचय प्राप्त किया। यही समय था जब वे पं० धुरेन्द्र शास्त्री (अब स्वामी ध्रुवानन्दजी) के संपर्क में आये। यही समय था जब श्री रामवृक्ष बेनीपुरी, श्री गंगाशरण सिंह, स्वर्गीय राहुल सांकृत्यायन, श्री मनोरंजन प्रसादसिंह, आदि साहित्यिकों से उनकी मैत्री और स्नेहभाव स्थापित हुआ। इन वर्षों में उन्होंने साहित्य पढ़ा भी काफ़ी। यही वह समय था जब वे युवक-आन्दोलन में सम्मिलित हुए। और, यही वह समय था जब बेनीपुरीजी के संपादकत्व में निकलने वाले क्रांतिकारी 'युवक' नामक मासिक पत्र ने दिनकर जी की अनेक क्रांतिकारिणी कविताओं को प्रकाशित किया।

साहित्यिक प्रभाव--हिन्दी के प्राचीन कवियों में से **कबीर और तुलसी** ने दिनकर को अत्यधिक प्रभावित किया है। 'रेणुका' में कई कविताएं ऐसी हैं, जिनके पीछे कबीर का प्रभाव देखा जा सकता है। तुलसीदास के परम भक्त होने का ही यह प्रभाव था कि दिनकर आरंभ से ही अपनी कविता में सरलता और प्रसादगुण को प्रधानता देने लगे। संस्कृत के **कालिदास** और मैथिली के **विद्यापति** का प्रभाव भी दिनकर-काव्य में स्पष्ट देखा जा सकता है। 'रसवंती' में "नारी" नामक एक कविता का आरंभ ही विद्यापति की प्रेरणा से हुआ है—

ततहि धाओल दुहु लोचन रे,
जतए गेलि वर नारि।

आसा-लुबुध न तजई रे,
कृपनक पाछु भिखारि। (विद्यापति)
खिली भू पर जब से तुम नारि
कल्पना-सी मोहक, अनजान,
रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक से मेरे गान ! (दिनकर)

समकालीन कवियों में से सबसे पहले दिनकर **मैथिलीशरण गुप्त** की कविताओं से आकृष्ट हुए। उनकी सर्वप्रथम रचना 'प्रणभंग' थी, जो सन १९२९-३० ई० में प्रकाशित हुई। 'प्रणभंग' सर्गबद्ध खंडकाव्य है और भाषा तथा शैली में वह 'जयद्रथ-वध' का अनुकरण करता है। उन पर दूसरा प्रभाव पं० रामनरेश त्रिपाठी का पड़ा, जिनके 'पथिक' काव्य के अनुकरण पर उन्होंने 'वीरबाला' काव्य, नवीं कक्षा के छात्र रहते ही, लिखा था। किन्तु, माखनलाल चतुर्वेदी का प्रभाव इनसे भी अधिक पुराना था। लोकमान्य तिलक के निधन पर माखनलाल जी की एक कविता 'साप्ताहिक प्रताप' में छपी थी। यह सन् १९२० ई० की बात है। दिनकर की उम्र उस समय केवल बारह वर्ष की थी। किन्तु, उसी आयु में उन्होंने माखनलालजी की इस कविता को कंठ कर लिया था।

दिनकर और छायावादी कवि—पंत, निराला और प्रसाद का प्रभाव दिनकर पर प्रायः नहीं पड़ा। कारण कदाचित् यह रहा हो कि दिनकरजी छायावादी आन्दोलन के प्रति सहानुभूतिशील नहीं थे। बचपन में प्रकृति ने उन्हें अपने उग्ररूप से प्रभावित किया। फिर ग्रामीण जनता के कष्टपूर्ण जीवन को देखते-देखते उनकी भावधारा कर्मठता की ओर बहने लगी। वे **सौन्दर्यबोध** से अधिक **कर्मप्रेरणा** को महत्व देने लगे थे। ऐसी मनोदशा को लेकर कवि छायावाद की रंगसाज़ी और आकाश-चारिता को महत्व नहीं दे सकता था। इसीलिए हम देखते हैं कि भाषा के क्षेत्र में दिनकर छायावादियों की अपेक्षा मैथिलीशरण, रामनरेश

त्रिपाठी और माखनलाल चतुर्वेदी के अधिक समीप ठहरते हैं। प्रत्युत, यह मानने के भी हमारे पास सुदृढ़ आधार हैं कि चतुर्वेदीजी की व्यंजना-पूर्ण भाषा की ओर **दिनकर** आरम्भ से ही आकृष्ट थे । सच तो यह है कि माखनलाल, मैथिलीशरण और पंत की भाषाओं के समन्वय से दिन-करजी ने अपने अनुरूप एक पृथक् ही भाषा की सृष्टि कर ली थी, जो द्विवेदी-युगीन भाषा के समान प्रसन्न भी थी और छायावाद की व्यंजना से युक्त भी। जब 'दिनकर' और 'बच्चन' अभी युवक थे, और बराबरी में चल रहे थे, उस समय रामनरेश त्रिपाठी ने अपनी "कविता कौमुदी" में एक वाक्य लिखा था कि, "इन दोनों कवियों में होड़ है। बच्चन के पास भाषा है और दिनकर के पास भाव। इन दोनों में से जो कवि दूसरे का तत्व ग्रहण कर लेगा वही अगले युग का नेता होगा।" कालक्रम में **दिनकर** ने अपने उद्वेलित भावों के अनुरूप पृथक् ही भाषा तैयार कर ली, जो अब हिन्दी साहित्य में विशेष महत्व की वस्तु बन गयी है।

नज़रुल इस्लाम—अपने कालेज-जीवन में ही दिनकर ने बंगला सीखी, और **नज़रुल इस्लाम** की 'अग्निवीणा' का अध्ययन उन्होंने मूल भाषा में ही किया। 'अग्निवीणा' सरकार के द्वारा जब्त कर ली गयी थी। इसलिए छिपकर इसका अध्ययन करना तत्कालीन देशभक्त युवकों का धर्म-सा हो गया था। दिनकर स्वयं पर **नज़रुल** और **रवीन्द्र** दोनों का प्रभाव स्वीकार करते हैं।

उर्दू-कवि—कालेज से निकलने पर दिनकर पहले तो शिक्षक हुए, पीछे सब-रजिस्ट्रार। सब-रजिस्ट्रारी के सिलसिले में वे, प्रायः, ९-१० वर्ष तक बराबर गांवों में नियुक्त होते रहे। अतएव बिहार के विभिन्न भागों में ग्रामीण जनता की जो दशा थी, उसे उन्होंने समीप से देखा और समझा। सब-रजिस्ट्रारी के दौरान ही दिनकरजी को उर्दू फिर से सीखनी पड़ी। उन्हीं दिनों उर्दू सीख कर उन्होंने **'इकबाल'** और **'जोश'** की कविताएं फारसी लिपि में पढ़ीं। 'जोश' का प्रभाव तो

दिनकरजी पर कदाचित् नहीं पड़ा, किन्तु इकबाल के वे तभी से भक्त बन गये। यह ध्यान देने की बात है कि हिन्दी के दो कवि (दिनकर और बच्चन) जो भारतवर्ष में सर्वाधिक प्रसिद्धि के भागी हैं, तथा जिनकी कविताएं देश में सबसे अधिक पढ़ी गयी हैं, वे दोनों ही उर्दू भाषा के केवल जानकार ही नहीं, प्रत्युत प्रशंसक भी हैं।

महापुरुषों का प्रभाव—भारत के महापुरुषों में से दिनकर पर स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी का सबसे अधिक प्रभाव है। **लोकमान्य तिलक** के विषय में तो उन्होंने स्वयं लिखा है कि **'गीता का कथन एक बार तो भगवान् श्रीकृष्ण ने किया, किन्तु दूसरी बार उसका कथन लोकमान्य तिलक ने किया है।'** इसी प्रकार, **स्वामी विवेकानन्द** को दिनकर बहुत ही ऊंचा स्थान देते हैं। उनका कहना है कि *वास्तविक भारत-धर्म पहला आख्यान स्वयं भगवान् कृष्ण ने किया था। उनके पश्चात् इसका आख्यान गुरु गोविन्दसिंह ने किया। तथा आधुनिक युग में उसके सबसे बड़े आख्याता स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, और लोकमान्य तिलक हुए हैं।*

महात्मा गाँधी का प्रभाव—दिनकर की विचारधारा तिलक, विवेकानन्द, दयानन्द और गुरु गोविन्द की विचारधारा से मिलती-जुलती है। किन्तु महात्मा गाँधी का प्रभाव उनपर कितना और किस दिशा में पड़ा है, इसका मूल्यांकन अत्यन्त कठिन कार्य है। गांधीजी के दो रूप थे। उनका एक रूप **विद्रोही** का था, जो संसार के सबसे शक्तिशाली साम्राज्य को चुनौती दे रहा था। उनका दूसरा रूप **संत** का था, जो इस संघर्ष में तलवार उठाने वालों की निन्दा करता था, और जो उपयोग के सामने सौन्दर्य को नगण्य समझता था। जहां तक विद्रोही गांधी की बात है, हम दिनकर पर उसका प्रभाव स्पष्ट देखते हैं। गाँधी का साहस, उसकी तपस्या, उसकी निर्भयता और दलितों की ओर से शासन को ललकारने का वीर भाव आदि सारी बातें ऐसी थीं, जिन पर

दिनकर लट्टू थे। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित पंक्तियां बहुत ठोस प्रमाण उपस्थित करती हैं :

१. सन् १९३० में पटना के साप्ताहिक 'महावीर' में प्रकाशित—

यह विस्मय बड़ा प्रबल है, बल को बलहीन रिझाते,
मरने वाले हंसते हैं, आँसू हैं वधिक बहाते।

२. गांधीजी के पूना-उपवास के समय 'विशाल भारत' में प्रकाशित कविता :—

ईसा चढ़ा क्रूस पर फिर से, दैव हाय, कल्याण करें।

३. **रेणुका** के वर्तमान संस्करण में संगृहीत "ओ द्विधाग्रस्त शार्दूल बोल" नामक कविता, और **हुंकार** में संगृहीत 'कल्पना की दिशा' नामक कविता की पंक्तियें, जिनमें 'शास्ता' नाम से गांधीजी का बोध होता है।

४. दिनकरजी की प्रसिद्ध कृति "बापू"।

५. 'कोयला और कवित्व' में संगृहीत 'गांधी' नामक कविता।

६. 'नये सुभाषित' में संगृहीत गांधी-विषयक स्फुट पद्य।

इसके सिवाय, 'संस्कृति के चार अध्याय' में गांधीजी पर लिखा अध्याय भी दिनकरजी के गांधी-सम्बन्धी भावों को समझने में सहायक है। वे गांधी के अन्यभक्त नहीं हैं।

हमारा अपना मत यह है कि दिनकरजी गांधी के सभी स्वरूपों के प्रशंसक रहे है। केवल, गांधीजी का अहिंसा-विषयक सिद्धान्त उनके गले नहीं उतर पाया है।

नया मोड़—चीनी आक्रमण के बाद जब दिनकरजी की प्रबोधिनी रचना 'परशुराम की प्रतीक्षा' प्रकाश में आई, तब अनेक गांधीवादी लोग यह देखकर निराश हो गये कि गांधी के देश का सबसे समर्थ कवि गांधी-धर्म के मूल पर प्रहार कर रहा है। यही बात साम्यवादी आलोचकों ने भी कही। किन्तु, यह कोई नई बात नहीं थी। गांधीजी को पूजते हुए भी दिनकर ने बराबर अपना यह अधिकार बचा रखा था कि

आवश्यकता पड़ने पर वह अहिंसा का मनचाहा विरोध कर सके। 'कुरु-क्षेत्र' का प्रकाशन १९४६ में हुआ था। तब गांधीजी जीवित थे, और भारत स्वाधीन नहीं हुआ था। उस काव्य में युधिष्ठिर की जो आलो-चना है, वह वस्तुतः 'गांधी-धर्म' की ही आलोचना है। दिनकरजी ने गांधीजी पर सबसे अधिक भक्तिपूर्ण कविता सन् १९४७ ई० में लिखी, जब महात्माजी नोआखाली पहुंच कर अपनी चरम वीरता और साहस का परिचय दे रहे थे। इस कविता में कवि गांधी के सामने पराजित-सा दिखाई देता है। किन्तु, 'अहिंसा' को वह तब भी सर्वतोभावेन स्वीकार नहीं करता। वह आरम्भ में ही कहता है :

संसार पूजता जिन्हें तिलक-रोली, फूलों के हारों से,
मैं उन्हें पूजता आया हूँ बापू ! अब तक अंगारों से।

अंगार से पूजित होने का अधिकार केवल उन वीरों को होता है, जो तलवार से नहीं घबराते : **'सहते ही नहीं, दिया करते, विष का महान् विष से उत्तर।'** किन्तु, यह सत्य है कि खड्गधर वीर भी तपस्वी के सामने झुक जाते हैं। दिनकर भी इस कविता में गाँधीजी के सामने विनत दिखाई देते हैं :

पर, तू इन सबसे भिन्न, देख तुझको अंगार लजाते हैं।
मेरे उद्वेलित-ज्वलित गीत सामने नहीं हो पाते हैं।।

रूसी विचारधारा—दिनकर ने गांधी-धर्म को कभी सर्वतोभावेन स्वी-कार नहीं किया था। इसका एक प्रमाण यह भी है कि संघर्ष के दिनों में उनकी आन्तरिक सहानुभूति उन युवकों के साथ रही, जो अपनी प्रेरणा रूस से लेते थे, और जो अब साम्यवादी अथवा समाजवादी दलों के साथ हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध का समर्थन दिनकरजी ने इसलिए किया था कि उनकी दृष्टि साम्यवादी चिंतन से प्रभावित थी। सन् १९४५ ई० में जब राष्ट्रवादियों और साम्यवादियों के बीच चौड़ी दरार पड़ गयी, तब 'दिल्ली और मास्को' नामक कविता में साम्यवादियों की आलोचना तो उन्होंने अवश्य की, किन्तु मास्को की प्रशंसा भी उन्होंने उसी उत्साह से की, जिस

उत्साह के साथ कोई रूस-भक्त साम्यवादी ही कर सकता था।

बाह्य-प्रभाव—भारत से बाहर के साहित्यकारों में से दिनकर पर अंग्रेजी के रोमांटिक कवियों का प्रभाव आरम्भ में यथेष्ट रूप से पड़ा। किन्तु, वे **शैली** और **कीट्स** के कौमुदी-भूषित संसार में अधिक देर तक नहीं ठहरे। बाद में उनका परिचय जर्मनी के दार्शनिक कवि **नीत्से** की रचनाओं से हुआ, और फिर इंगलैण्ड के दर्शनाचार्य **बर्ट्रेंड रसल** के ग्रन्थों से। इन दोनों लेखकों को दिनकरजी अत्यन्त श्रद्धा के साथ देखते हैं। उनकी ऐसी ही श्रद्धा तॉल्स्तॉय पर भी है, जिनके कला-विषयक विचारों को एक समय वे अटल सत्य समझते थे। पिछले १५-२० वर्षों में उन पर इलियट, रिल्के, बादेलेयर और रेम्बू का प्रभाव भी पड़ा है। वे सरलता, ओज और प्रसाद के कवि के रूप में देश भर में विख्यात रहे हैं। किन्तु अब उनकी अभिलाषा यह है कि कोई ऐसा मार्ग निकालें कि **रिल्के के भाव तुलसी की सरलता से लिखे जा सकें**। वे अपनी, और अपनी पीढ़ी के कवियों की, कविताओं को यथेष्ट नहीं मानते। वे अपनी और अपने युग की सीमाओं का अतिक्रमण करके नयी अनुभूतियों को नई शैली में लिखने के लिए व्यग्र हैं।

नई कविता और दिनकर—यही कारण है कि **नई कविता** के प्रति उनका सम्बन्ध बहिष्कार का नहीं, सहयोग का है। वे **नई कविता** के आन्दोलन को बड़ी ही आशा की दृष्टि से देखते हैं। एक बार दिनकरजी से मैंने यह पूछा कि, "चालीस वर्षों तक एक निश्चित शैली में लिखने के बाद क्या आप यह समझते हैं कि अब अपनी शैली को बदल कर आप सर्वथा नवीन हो सकेंगे ?" दिनकरजी ने कुछ सोच कर कहा, "सर्वथा नवीन होना तो कूद कर अपनी चमड़ी से बाहर निकल पड़ने के समान है। किन्तु, चमड़ी की कुछ थोड़ी परतें टूट सकती हैं। माखनलालजी को देखिए। वे किस तरह बदलते आए हैं। और, तब भी यह सच है कि प्रत्येक परिवर्तन उन्हें अपने मौलिक रूप के अधिक समीप ला देता है। जिस युग ने हमें तैयार किया था, वह अब जा रहा है। अगर जीना ही है, तो तैयारी भी

वही करनी चाहिए, जिससे अगला युग चाहे तो हमें भी अपना माध्यम बना सके।" कवि की यह भावना "कोयला और कवित्व' नामक नवीन-संग्रह की 'नई और पुरानी कविता' नामक कविता में प्रगट हुई हैं। कवि वहां दोनों के वैशिष्ट्य का कायल रहा है।

यात्रा जारी—दिनकर अभी थके नहीं हैं। उनके चारों ओर के वातायन खुले हैं, और हर तरफ की हवा उनके वक्ष में प्रवेश पाती है। इलियट के बाद आजकल उनकी प्रशंसा के पात्र **पास्तरनेक** हैं, जिनके निधन पर उन्होंने बड़ी ही भावाकुल कविता लिखी थी (कोयला और कवित्व में संग्रहीत)। जीवित कवि बहती हुई नदी के समान होता है। नदी विश्राम नहीं लेती, सदा बहती ही है। वह उन फूलों की आसक्ति में पड़ कर नहीं ठहरती, जो उसके तटों पर विकसित होते हैं। वह उन पत्थरों के भय से भी नहीं रुकती, जो बराबर उसमें गिरते रहते हैं। कवि काल के हाथ की बाँसुरी होता है। **'दिनकर' काल की वंशी के रूप में आज भी सबल, स्वस्थ और चेतन है। यह भारत के लिए, और साहित्य के लिए भी, सौभाग्य का ही विषय है। किसी विश्वविद्यालय का उपकुलपति पद उनके मार्ग में क्षणिक बाधा ही खड़ी कर सकता है, अधिक नहीं।**

युग और कवि

आरम्भ—चौदह वर्ष की आयु में, सन् १९२२ में, कवि ने अपनी कविता यात्रा आरम्भ की। सन् १९२० भारत की स्वतंत्रता की लड़ाई का बड़ा महत्वपूर्ण वर्ष था। चारों ओर एक नया उत्साह विद्यमान था। इससे पहले वर्ष के जलियाँवाला बाग के कांड ने देश में एक नयी आग धधका दी थी। सभी लोग कुछ कर मिटने के लिए चंचल हो उठे थे। सत्याग्रह का पहला प्रयोग कवि के ही जन्म-प्रदेश में हो चुका था। सन् १९१७ में होने वाला यह प्रयोग सफल रहा था। सन् १९२० में सत्याग्रह का जो नया बिगुल गांधी जी ने बजाया, उससे देश के मनचले नवयुवकों में असंतोष भी जागा, परन्तु उससे उन्हें बलिदान का एक नया रास्ता भी मिला।

पृष्ठभूमि—चौदह वर्ष की आयु कवि-जीवन की यात्रा के आरम्भ के लिए न बहुत बड़ी है, और न बहुत छोटी। तब तक जिस बालक-मन ने दुर्भिक्ष, अकाल, महामारी, पिता की अकाल-मृत्यु और जमींदारों के अन्याय, आदि सभी कुछ देख लिया था, उसे इस समय जैसे अपने जीवन की सभी संचित पीड़ाओं और समाज के परिपार्श्व में होने वाले अन्यायों के संचित रूप के साकार प्रतिनिधि गांधीजी के दर्शन, मौलाना शौकत के साथ, सन् १९२० में बरौनी के जंक्शन पर हुए। इस छोटी आयु का बालक, शरीर से बालक होकर भी, मन से प्रौढ़ बन चुका था। इसीलिए उसने प्रथम बार अपने व्यक्तित्व और इन नेताओं के व्यक्तित्व को समाज के स्तर पर जाँचना चाहा। यही थी उसकी प्रथम कविता प्रेरणा! सन् २१ के सत्याग्रह ने भी जादू दिखाया। सन् २२ में उसकी लेखनी से पहली

कविता चल निकली ।

प्रथम रचना—परन्तु, उसकी प्रथम प्रकाशित रचना सन् १९२४ में ही सामने आई । मातादीन शुक्ल द्वारा स्थापित 'छात्र सहोदर' नाम के मासिक में यह रचना छपी । 'छात्र' नाम के एक अन्य पत्र में एक और रचना छपी । इन दोनों के विषय तत्कालीन राष्ट्रीयता और सामाजिक दुर्दशा पर आधारित थे ।

सन् १९४६ से पहले—इस सब भूमिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने जब अपनी कविता-यात्रा आरम्भ की, उस समय देश एक विशिष्ट परिस्थिति में से गुज़र रहा था । तब से लेकर सन् १९४६ तक यह परिस्थिति यत्किंचित् अपरिवर्तित रूप में चलती ही रही है । इसी बीच कवि अपने युग की परिस्थितियों और परिपार्श्व से इतना अधिक प्रभावित रहा है कि उसने कल्पना की रंगीनियों को लगभग छोड़ ही दिया है । 'रेणुका' में आई उसकी ये पंक्तियां उसके जीवन के और काव्य के दृष्टिकोण को स्पष्ट करती हैं :

व्योम-कुंजों की परी, अयि कल्पने ! भूमि को निज स्वर्ग पर ललचा नहीं,
व्योम-कुंजों की परी, अयि कल्पने ! रूप धर विचरो जरा वनफूल में ।

वह आरम्भ से ही, झूठी कल्पनाओं के चक्कर में न पड़कर, सत्य और वास्तविकता का पुजारी रहता आया है । उसका प्रत्येक काव्य इसी वास्तविकता पर आधारित है । युग के प्रति भारत का कोई अन्य कवि इतना अधिक सजग, सतेज और उन्मुख नहीं रहा है । प्रायः सबने ही एक विशेष विचार या परिस्थिति को पकड़कर उसी का अनुशीलन किया है । युग की सम्पूर्ण परिस्थितियों के प्रति तो कोई भी इतना अधिक उन्मुख नहीं रहा है । विशेषकर हिन्दी साहित्य के विषय में यह बात पूरी तरह लागू होती है । **गुप्तजी** संस्कृति के और इतिहास के पुजारी बनकर चले हैं, तो **नवीनजी** और **चतुर्वेदीजी** इस पक्ष के प्रति उदासीन रहे हैं । **निराला** ने केवल कुछ कविताएं ही इस संबन्ध में लिखीं । **सोहनलाल द्विवेदी** की कविताएं केवल राष्ट्रीय संघर्ष तक ही सीमित रहीं । संक्षेप

में, यह कहा जा सकता है कि किसी भी कवि ने किसी स्वतंत्र दर्शन या विचार-पद्धति का अनुसरण या निर्माण नहीं किया है। इस विषय में दिनकर का स्थान औरों से भिन्न है। उसने न तो किसी के बनाए पथ का अनुसरण किया, और न केवल किसी एक विशेष धारा या अंग को ही अपनाया। उसने अपने समय की सभी आवश्यकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा है। उसका काव्य अपने समय की प्रत्येक स्थिति का भी प्रतिनिधि नहीं है, बल्कि उसमें एक विशेष प्रकार का दर्शन भी विद्यमान है। कवि ने केवल गांधी जी या किसी और महान् नेता के दर्शन का ही अंधानुसरण नहीं किया है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि कवि जिस पथ पर बढ़ा है, उसमें राष्ट्रीयता, प्रगतिवाद, स्वतंत्रता का संघर्ष, और युद्ध दर्शन, आदि सभी कुछ आ जाते हैं। इन सबके साथ ही उसने संस्कृति का विवेचन भी आरम्भ से ही किया है।

सन् १९४६ के बाद—सन् ४६ के बाद कवि की धारा एक नया मोड़ लेती है। परन्तु इसे नया मोड़ इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि कवि ने स्वतंत्रता के गीत गाने बंद कर दिये। कारण यह था कि राष्ट्र स्वतंत्रता प्राप्त कर चुका था। ऐसे समय स्वतंत्रता के गीत वैसे भी बेमानी हो गये थे। अन्यथा कवि ने कोई ऐसा नया स्वर नहीं अपनाया, जिसे पहले से कतई भिन्न कहा जा सके। (भारत के स्वतंत्र होने के बाद देश की समस्याएं बदल गईं थी। अतः कविता में भी उस प्रकार का परिवर्तन आना स्वाभाविक था। कवि युग का प्रहरी होता है। वह केवल प्रशंसा के गीत नहीं गाता। उसका कार्य युग के आदर्शों की विवेचना ही नहीं, बल्कि युग द्वारा उन्हें पूरा करने या न पूरा कर पाने की सामर्थ्य-असामर्थ्य का विवेचन करना भी होता है। दिनकर ने जब देखा कि हम गांधीवाद या और दूसरे नामों से जिन आदर्शों को स्वतंत्रता-युद्ध के दिनों से पालते आए थे, वे आदर्श स्वतंत्रता के बाद गायब होने लगे, और दरिद्रनारायण की सेवा का आदर्श कतई भुला दिया गया, तब उसने बहुत बौखलाकर इस प्रकार की असंतोषमयी कुछ रचनाएं लिखीं।

'दिल्ली' या इसी प्रकार की कुछ छोटी रचनाएँ इस प्रकार की समस्याओं-की प्रतिक्रिया में ही रची गई हैं। 'कुरुक्षेत्र' की रचना सन् ४६ में हुई। भारत की आज़ादी का प्रश्न सन् ४५ में ही लगभग तय हो गया था। तब से ही कवि ने स्वतंत्रता का आह्वान करना बंद करके देश की भावी राजनैतिक समस्याओं पर विचार करना आरम्भ कर दिया था। 'कुरुक्षेत्र' में उसने एक बड़े सांस्कृतिक प्रश्न को भी उठाया है। हमारे राष्ट्र ने स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में एक विशेष प्रकार के जीवन दर्शन को अपना लिया था। अहिंसा, सत्य और प्रेम की कुछ नई परिभाषाएं घड़ ली गई थीं।

आजादी की समस्याएँ—परन्तु देश की आज़ादी का स्वप्न पूरा होते ही एक सच्चाई सामने आ गई। आखिर अब हम केवल आदर्शों के बल पर ज़िंदा नहीं रह सकते थे। हमारे लिए आवश्यक था कि हम वास्तविकता के बल पर, परिस्थितियों के अनुरूप, नये मानों की स्थापना करें। कवि अपने इस उत्तरादायित्व को भली भांति अनुभव करता था। इसीलिए उसने 'कुरुक्षेत्र' में देश के भावी आदर्शों पर भी विचार किया है। अहिंसा को अपनाने का अर्थ क्षत्रियत्व अथवा युद्ध प्रेम के मिटा लेने से नहीं है। ये दोनों भाव-नाएं आत्मा की प्रकृति से संबंध रखती हैं। इनका सम्बंध मनुष्य के एक स्वाभाविक भाव—उत्साह—से है। उत्साह के बिना जीवन शून्य सा हो जाता है। इसलिये उत्साह की आवश्यकता अहिंसा को अपनाने वाले के लिए भी उतनी है, जितनी हिंसा को अपनाने वाले के लिए। यह बात हमें और समझ लेनी चाहिए कि भारत ने जिस ढाँचे को विदेशी सरकार से लिया था, उसमें अहिंसा को स्थान पूरी तौर पर मिल ही नहीं सकता था। जाते जाते विदेशी सरकार हमारे देश को दो टुकड़ों में बाँट गई। यदि इसका अर्थ केवल दो टुकड़ों में बटना मात्र ही होता तब भी एक बात थी। परन्तु इसका अर्थ तो हुआ भारत की स्वतंत्रता पर लगातार एक खतरे की घंटी लटकना। तब से कुछ ही दिन के अन्दर काश्मीर पर पाकिस्तान ने हमला कर दिया। आश्चर्य की बात

यह है कि आज तक भी इसका सारा उत्तरदायित्व हम पाकिस्तान की द्वेष-भावना पर देते आए हैं। उसके संस्थापक श्री जिन्ना की धर्मान्ध भावनाओं का अपना भी स्थान रहा होगा। पर, यह बात न भुला देनी चाहिए कि दोनों नव-स्वतंत्र देशों की रक्षा-व्यवस्था उस समय विदेशी शासकों के हाथ में ही थी। वे लोग यूँ तो इस देश को अपने रहम पर छोड़ कर चले गए थे, पर दोनों की सेनाओं का नेतृत्व करने के लिए उनके ही प्रधान व्यक्तियों को नियुक्त किया गया था। यह कैसे स्वीकार किया जाए कि प्रधान सेनापति की इच्छा के विरुद्ध इतना बड़ा हमला हो जाए और वह कुछ बोल भी न सके? सच तो यह है कि उस समय नव-स्वतंत्र भारत से, विशेषकर उसकी नीतियों से, कुछ साम्राज्यवादी शक्तियों को खतरा हो गया था। इस खतरे को टालने के लिए और भारत की आवाज़ को कमज़ोर करने के लिए यह जरूरी था कि आरम्भ से ही भारत को एक ऐसी समस्या में उलझा दिया जाए कि उससे उद्धार पाना मुश्किल हो जाए। काश्मीर की समस्या ऐसी ही थी।

कवि ने इस बात को भले ही इस रूप में नहीं ग्रहण किया। परन्तु वह इस बात के प्रति सजग अवश्य रहा कि यह समस्या भारत के लिए एक स्थायी खतरा है। इसके साथ ही नया प्रश्न यह उठ पड़ा था कि भारत को अहिंसा का नारा छोड़कर, नयी परिस्थितियों के अनुकूल, उत्साह, शक्ति और विश्वास के नये नारे अपनाने होंगे। यह बात राष्ट्र के अपने जीवन के लिए बहुत आवश्यक थी। 'कुरुक्षेत्र' में यही सब कुछ विवेच्य रहा है। और उसके बाद के काव्यों में भी जब-तब यही सुनने को मिला है।

नई समस्याएँ—पर बाद में नई समस्याएँ भी देश के सामने उठ खड़ी हुईं। इन समस्याओं में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक, आदि सभी प्रकार की थीं। 'रश्मिरथी' में सामाजिक समस्याओं की प्रचुरता रही। पर इस समय से कवि समस्याओं को सुलझाने में कुछ इस प्रकार से जुटा कि वह अधिकाधिक विचार-प्रधान ही होता गया। इसका

प्रभाव यह हुआ कि उसने इस समय का बहुत सा साहित्य गद्य में लिखा। साहित्य में और देश में उसे एक प्रकार की निष्क्रियता छाती हुई दिखाई दी। उसने इन दोनों का खुल कर विरोध किया। उसका यह गद्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। इसमें कुछ कृतियाँ गद्य-काव्यात्मक और कुछ सामान्य निबंधों के रूप में भी सामने आई। कवि ने उन सब रचनाओं को कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत किया है कि उसका युग और उसकी समस्याएं हमारे सामने पूरी तरह आ जाती हैं।

सबसे बड़ी समस्या—परन्तु इसके साथ ही दिनकर-साहित्य में एक और नयी बात भी हमारे सामने आती है। देश की सबसे बड़ी समस्या, स्वतंत्रता के बाद से, यह रही हैं कि सम्पूर्ण संस्कृति का नये सिरे से मूल्यांकन किया जाए। कवि ने इस दिशा में आरम्भ से ही अपनी सजगता दिखाई। परिणाम यह कि 'संस्कृति के चार अध्याय' नाम की महत्वपूर्ण रचना हमारे सामने आई। इस रचना में कवि की काव्य-भूमिका का समावेश भी हो जाता है और, उसके साथ ही, उसकी विवेचिका धारणाओं का स्पष्टीकरण भी हो जाता है। इस विषय में हमें यहां विचारों के औचित्य या अनौचित्य का विवेचन नहीं करना है। हमें तो केवल यह देखना है कि कवि ने अपने युग-दर्शन को पूरी तरह प्रस्तुत किया है। उसका पद्य इसी भूमिका पर लिखा गया है। यह भूमिका 'कुरुक्षेत्र' में पूरी तरह स्पष्ट हो चुकी थी। फिर भी, उसे स्वतंत्र रूप में प्रस्तुत किए बिना कवि के विचारक रूप को चैन न मिलती, इसलिए कवि ने इसे गद्य में ही पूरी तरह व्यक्त किया।

समस्या और समाधान—जिस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' ने 'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय' को जन्म दिया, उसी प्रकार इस विवेचनात्मक ग्रंथ ने कवि के प्रबुद्ध चिंतन को अभिव्यक्ति का एक नया अवसर प्रदान किया। 'रश्मिरथी' की समस्या समाज की दृष्टि से भले ही महत्वपूर्ण थी, परन्तु उसे सार्वत्रिक और सार्वकालिक समस्या के रूप में नहीं कहा जा सकता। कवि जानता है कि जीवन संसार के विभिन्न देशों में बंट कर भी एक

है। सभी जगह प्रेम और कर्तव्य के बीच एक-सी समस्या उठती रही है। नारी और नर इन्हीं दोनों के प्रतीक हैं। नारी और नर की समस्या यह नहीं है कि उनमें से किसे क्या अधिकार प्राप्त है ? बल्कि उनकी समस्या यह है कि क्या उनमें से एक को प्रेम और एक को संघर्ष का प्रतीक स्वीकार कर लिया जाए या नहीं ? यदि ऐसा कर भी लिया जाए, तो क्या प्रेम और संघर्ष जीवन की निष्क्रियता और सक्रियता के प्रतिनिधि भी मान लिये जाएं ? इसके साथ ही प्रेम के स्वप्न देखने वालों ने स्वर्ग की जो निष्क्रिय कल्पना की है, उसका प्रश्न भी उपस्थित हो जाता है। तो क्या मानव जीवन का संपूर्ण संघर्ष उस प्रकार के निष्क्रिय जीवन की प्राप्ति के लिए ही हैं ? और क्या उसका कोई भी महत्व इस संघर्ष में नहीं है ?

इन दोनों प्रश्नों का उत्तर कवि पहले से भी देता आया था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद विदेशों की अनेक यात्राओं ने कवि को अधिक प्रबुद्ध कर दिया, और उसे यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि सम्पूर्ण संसार में नर-नारी के सम्बन्धों का संतुलन किन्हीं पुरानी भावनाओं के आधार पर ही टिका हुआ है। उसने अनुभव किया कि मनुष्य जीवन के वास्तविक उद्देश्य से दूर भटककर संघर्ष और कर्म को, साध्य नहीं, साधन मान बैठता है। कभी वह स्वर्ग की कल्पना करता है और कभी किसी और प्रकार की। लगता है कि वह अपने जीवन के संघर्षों से उकता कर नितांत निष्क्रिय और सुस्ती भरे जीवन को बिताने को उत्सुक है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य अपने उत्तरदायित्वों से किसी न किसी रूप में बचना अवश्य चाहता है।

'उर्वशी' का महत्व—इस प्रकार एक युग-व्याप्त समस्या को लेकर कवि ने 'उर्वशी' का सृजन किया है। 'उर्वशी' उसकी अपेक्षाकृत हाल की रचना है। इसमें उसने इसी बड़ी समस्या को पूरी तरह लिया है। इसे विश्व-साहित्य की एक उत्कृष्ट रचना इसीलिए माना जा सकता है कि इसमें, देश और काल की सीमा से रहित, एक ऐसी समस्या पर विचार

किया गया है, जिससे सारे संसार का सीधा सम्बन्ध है। कवि प्रसाद ने इसी समस्या को किसी दूसरे ढंग से **कामायनी** में उठाया था। यह समस्या मानव की आदि और शाश्वत समस्या है। दिनकर का दिया हुआ हल प्रसाद से भिन्न है। मूलत: भिन्न न होने पर भी उसमें उप-स्थापना का अन्तर अवश्य गहरा है। कवि ने जो कुछ भी कहा है उसे स्पष्ट शब्दों में कहा है। वह भोग से पलायन उचित नहीं मानता; बल्कि उसमें ही जीवन का सच्चा दर्शन करना चाहता है।

अनल दर्शन की निरंतरता—परन्तु इससे कवि के जीवन के **अनल-दर्शन** अथवा कर्म-मार्ग की व्याख्या किसी भी प्रकार सुस्त नहीं पड़ती। वह तो आरम्भ से ही जीवन की कर्मण्यता का पक्षपोषक रहा है। उसे बाल गंगाधर तिलक की 'गीता-रहस्य' ने आरम्भ में ही बहुत अधिक प्रभावित किया था। 'उर्वशी' में भी उसका यह संदेश शिथिल नहीं हुआ है।

परन्तु, इसी समय देश की दशा बदली। पिछले कुछ वर्षों से देश में अंदरूनी तौर पर एक निष्क्रियता छा गई थी। कवि ने देखा कि सारा देश उस सुस्ती में आकर बहुत से भ्रामक जालों मे फंस गया था। परंतु तभी जैसे इस देश को जगाने के लिए भारत के उत्तरी सीमांत से एक नया हमला हुआ। इस बार यह हमला **भाई** कहलाने वाले साथियों ने किया था। विश्वासघात का इतना खुला रूप कहीं और शायद देखने को न मिला हो। चीन के इस हमले ने देश के नेताओं को कुछ सोचने के लिए विवश कर दिया। उन्होंने अपनी त्रुटि को अनुभव किया। परन्तु, इस पर भी वे अपनी नीतियों को आमूलचूल बदलने से हिचकिचाए। कवि का सोया हुआ 'अनल-गीत' फिर से जाग पड़ा। सोये सिंह ने जाग-कर फिर से हुंकार भरी। युग से उदासीन रहने वाले कवि की चेतना को धिक्कार कर उसने फिर से देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहचानने की पुकार मचाई। 'उर्वशी' ने उसके जिस अनल-दर्शन को एक प्रबुद्ध सांस्कृतिक रूप दे दिया था, उसे पलट कर कवि ने फिर से अभिधा के

स्वर में कहना शुरू किया। वह समझता था कि इस प्रकार की चेतावनी के सिवा कोई भी बात इस देश को जगा न सकेगी। उसका यह स्वर 'परशुराम की प्रतीक्षा' के रूप में सामने आया। कवि ने जिस **परशुराम** की प्रतीक्षा करनी चाही, वह **ब्रह्म और क्षत्र** का मिला-जुला रूप है। लगता है कि एक बार फिर से वैदिक ऋषि **'उभे ब्रह्म च क्षत्रं च'** का मंत्र लेकर उठा है। उसने सारे राष्ट्र को पाप और पुण्य की नई परिभाषा में सोचने के लिए प्रेरित किया है। वह हिंसा और अहिंसा की विवेचना भी खुलकर करना चाहता है। इस कृति को केवल सामायिक-प्रतिक्रिया अथवा आस्था के विनाश के कारण ही सामने आई नहीं कहा जा सकता। कवि ने इसमें अनेक ऐसी बातें अवश्य कही हैं, जिनसे इसके सामायिक-प्रतिक्रिया होने का भ्रम होता है। परन्तु यहां भी उसका जीवन दर्शन **अनल की उपासना** को लेकर ही पूरी तरह सामने आया है।

विकास में संगति और युगैक्य— इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि ने 'प्रण-भंग' से जो कविता यात्रा आरम्भ की थी, और जिसका अन्त अभी नहीं हुआ है, तथा अब तक जिसकी अन्तिम कड़ी **'कोयला और कवित्व'** बन पाई है, उसमें केवल एक ही विचारधारा सर्वत्र चली है। उस विचारधारा को हम **अनल-काव्य** या **अनल-दर्शन** के रूप में कह सकते हैं। वस्तुतः, तब से अब तक का युग कवि ने अन्याय और अत्याचार के विरोध से ही भरा देखा है। व्यक्तिगत जीवन, राष्ट्रीय जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार में सर्वत्र ही उसने, विगत चालीस वर्षों में, निरन्तर अन्याय और अत्याचार की वृद्धि होते देखी है। साथ ही उसने यह भी देखा है कि इसके विरुद्ध संघर्ष के प्रयत्न भी बढ़े हैं। समाजवाद इन प्रयत्नों में से एक है, परन्तु केवल मात्र एक नहीं। समाजवाद और साम्यवाद अन्याय और अत्याचार के अन्तिम उत्तर नहीं हैं। मानव के व्यक्ति जीवन और उसकी आत्मा की उपेक्षा करके हम किसी भी व्यवस्था को लागू नहीं कर सकते। समाजवाद के वर्तमान प्रहरियों

ने इस सत्य को स्वीकार कर लिया है। चीन को छोड़ कर और देशों ने इस बात में अपना पूरा विश्वास व्यक्त किया है। परिणाम यह कि आज के नए बदलते सामाजिक मानों को स्वीकार कर समाजवाद ने अपने पुराने उग्र रूप को छोड़ दिया है। आज का समाजवाद समाज के साथ-साथ व्यक्ति की भी पूरी चिंता करता है। यह बात केवल ख्रुश्चेव या किसी और नेता के कारण नहीं हुई है; बल्कि यह आज की अन्तर्राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पुकार का अनिवार्य उत्तर है। कवि इससे भी कुछ आगे बढ़ कर, भारतीय संस्कृति के उपेक्षित सत्यों को स्पष्ट करता हुआ, अपनी बात कहता है। उसका स्वर पिछले चालीस से अधिक वर्षों में लगभग एक ही रहा है। उसके अनुभवों और उसके जाने जगत् में जितना ही विस्तार होता गया है, उसका काव्य भी उतना ही व्यापक होता गया है।

यही है उसके काव्य-विकास की पृष्ठभूमि अथवा उसके काव्य का युग-दर्शन। यहीं वह अन्य सम-सामयिक कवियों से, अपने प्रतिनिधि रूप के कारण, भिन्न हो जाता है। वह देश और वाद की सीमा से कुछ ऊपर उठ चुका है। पर देश उसे और वह देश को भूल नहीं पाया है। उसकी अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रीयता के बीच से ही होकर निकली है।

——

४

साहित्य-साधना

प्रसाद के बाद हिन्दी साहित्य में एक भी ऐसा महान् कवि सामने नहीं आया, जिसे हिन्दी का युग-प्रतिनिधि कवि कहा जा सके। प्रगतिवाद के युग में किसी एक कवि के युग-प्रतिनिधि होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। उसके बाद तो नयी-नयी विचार-धाराएं और नये ढंग के काव्य चल पड़े। विशेषकर **कवि सम्मेलनों के कवि** और **साहित्यकार कवियों** में एक अन्तर आने लगा। ऐसी स्थिति में कविता के विभिन्न मोड़ों के बीच और हिन्दी साहित्य की विविध प्रगतियों के बीच अपनी राह बनाकर बढ़ने वाला कोई ऐसा साधक ही सामने आ सकता था, जिसकी आवाज़ औरों से ऊंची होती, जिसका दर्शन औरों से गहरा होता, और उसमें अपने युग की सभी प्रवृत्तियां विकास पा लेतीं; परन्तु, इस पर भी जो एक स्वतन्त्र चेतना का उद्घोष करने वाला होता। ऐसा ही था **'दिनकर'**, जो अपने चारों ओर के साहित्यान्धकार में से सूर्य की भाँति चमकता हुआ सामने आया, और जिसने अपना स्थान अन्य कवियों की उपेक्षा प्रमुख बना लिया। **भारतेन्दु** अथवा **प्रसाद** ने जिस प्रकार का मुखर अथवा मौन निर्देशन अपने युग में किया था, उस प्रकार के किसी निर्देशन की बात आज के युग में सम्भव नहीं दीखती। पुराने कवियों का ताँता अभी समाप्त नहीं हुआ और नये कवि अनेकों की संख्या में उठ चुके हैं। उस समय अपनी स्थिर साधना में रत वही एक कवि सबका प्रतिनिधि अथवा सबसे आगे बढ़ा हुआ गिना जा सकता है, जो बिना किसी से निर्देशन लिए अथवा बिना किसी को दिशा दिखाए, स्वयं एक ऐसी राह पर चलता जाए, जो अपने युग के सर्वाधिक अनुरूप हो, जिसका अनुसरण

लोग चाहे-अनचाहे करते ही जाएं, तथा जिसमें, युग-दर्शन ही नहीं, युग-नेतृत्व की सामर्थ्य भी अन्तर्हित हो। ऐसा ही है कवि **'दिनकर'**, और ऐसा ही युग-प्रतिनिधि है उसका साहित्य।

आरम्भ—दिनकर की काव्य-रचना 'प्रण-भंग' नाम की कृति से आरम्भ हुई थी। परन्तु इस कृति का महत्व न वह स्वयं स्वीकार करता है और न ही, आरम्भिक कृति होने के अतिरिक्त, इसका कोई महत्व है ही। परन्तु, तब से लेकर आज तक दिनकर ने अनेक कृतियों के द्वारा साहित्य की जो सेवा की है, वह, एक सीधी रेखा में होकर भी, अनेक प्रशस्त पथ-चिन्हों को पार करती हुई बढ़ी आ रही है। दिनकर की यह सम्पूर्ण साहित्य-साधना केवल कविता के क्षेत्र तक सीमित नहीं की जा सकती। उसने निबंध, कथाएं, गद्य-काव्य, इतिहास-ग्रंथ और बाल-साहित्य भी लिखा है। इसके अतिरिक्त आलोचना के क्षेत्र में भी उसने कुछ अमूल्य देन दी हैं। इस पर भी उसका काव्य इतना प्रौढ़ और बढ़ा हुआ रहा है कि उसके सम्मुख प्रायः हम उसकी सारी साहित्य-सर्जना को भुला सा देते हैं। सच तो यह है कि उसके गद्य में भी उसका कवि-रूप छूट नहीं पाया है। यही कारण है कि उसका गद्य कई बार पद्य से भी अधिक रोचक हो उठता है। परन्तु, यह बात दूसरी ओर भी कही जा सकती है। उसके पद्य को कोरी कविता या गीत कहकर टाला नहीं जा सकता। उसमें गद्य का सा चिंतन पूरी तरह अनुकृत हुआ है। इतना ही नहीं; कई स्थानों पर तो वह चला भी गद्य के से विस्तार में ही हैं। परन्तु, इससे न उसकी कविता का महत्व घटा है और ना ही उसके **'गद्य-कार'** रूप का। दोनों ही रूपों में वह मूलतः कवि है, और इसी दृष्टि से उसका महत्व भी है।

विविधता—यहीं पर हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिनकर केवल कवि ही नहीं है, उसमें नाटकीय प्रतिभा भी अद्भुत है। 'उर्वशी' महाकाव्य उसकी कवि और नाटक-कार की मिली-जुली प्रतिभा का निदर्शन है। यहां आकर कवि विचारक और गीतिकार रूप में ही नहीं चमका

है, बल्कि उसकी नाटकीय प्रतिभा के भी अच्छे दर्शन हुए हैं। नाटक की रचना में, विशेषकर गीतिनाट्य में, कुछ स्थल, विशेषकर प्रसंग-निर्माण के स्थल, अधिक कठिन गिने जाते हैं। यह उचित ही होगा यदि हम दिनकर के प्रकृति-चित्रण और प्रसंग-निर्माण की सामर्थ्य और कौशल के महत्व को स्वीकार करें। 'उर्वशी' में ये दोनों ही बातें सीधे और अच्छे रूप में सामने आई हैं।

इस प्रकार **गीतिनाट्यकार, गद्यकार, आलोचक** और **कवि** आदि-सभी-रूपों में दिनकर हमारे सामने आते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने बाल-साहित्य की भी रचना की है, और उसमें भी उन्हें ख्याति मिली है। जिस कंठ ने कभी अपने सुरीलेपन से लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा था, आज वही तेज और गरिमामयी वाणी को उगलकर, राष्ट्र ही नहीं, विश्व के भी अनेक मान्य आलोचकों का ध्यान अपनी और खींचने में समर्थ हुआ है।

काव्य-विस्तार—कहा जा चुका है कि कवि की प्रथम कृति **'प्रण-भंग'** थी। कवि ने इसे गुप्त जी के **जयद्रथवध** के अनुकरण पर लिखा था। तब वह कच्ची आयु और कच्चे अनुभव का था। अतः अनुकरण की भावना अधिक प्रधान थी। परन्तु, उसके बाद उसकी वाणी जब देश ने **'हुंकार'** के रूप में सुनी, तो उसके जैसे एक नये सूर्य का उदय रूप में होता लगा। राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आन्दोलन में इस प्रकार के तीव्र स्वर को लेकर तब तक हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कोई नहीं उठा था। जो कवि उठे भी, वे या तो तेज में कम थे, या फिर उनमें भावना की वह उग्रता ही न थी। इस प्रकार राष्ट्रीयता और स्वतंत्रता के पुजारी अनेक कवियों की अपेक्षा दिनकर के यौवन की **'हुंकार'** अधिक प्रबल और आकर्षक ही सिद्ध नहीं हुई, बल्कि उसने साहित्य के क्षेत्र में भी वह कमी भी पूरी की, जिसे, राजनीति के क्षेत्र में, सशस्त्र क्रांतिकारियों के दल पूरा कर रहे थे। 'दिनकर' का उन क्रांतिकारियों से सम्बन्ध भले ही न रहा हो, तथा उस पर गांधी जी का प्रभाव भले ही कितना रहा हो, तो भी उसने जो

कुछ लिखा, वह 'नवीन' के समान केवल क्रांति की पुकार या विप्लव की आग बरसाने वाली ही न था। उसमें कुछ अधिक स्थिरता थी, और उसकी जड़ें कुछ अधिक गहरी थीं। यह नवोदित कवि एक विशेष दृष्टि को लेकर चल रहा था। अगली कविता की पृष्ठभूमि इसी सरणि पर बनी है।

इसके बाद उसके अनेकों काव्य-ग्रंथ सामने आए। **'रसवन्ती', 'द्वंदगीत', 'रेणुका',** और **'सामधेनी'** ये चार कृतियां मुक्तक रचनाओं की हैं। इनमें समय-समय पर कवि के हृदय में उठे उद्गार और युग के प्रति उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है। कवि इन सब में अपने 'अनल-दर्शन' से पृथक् नहीं हुआ है। वह सम्पूर्ण काव्य में कर्म, उत्साह और पौरुष के गीत गाता रहा है। परन्तु यह सब एक सांस्कृतिक आधार पर ही हुआ है। 'सामधेनी' की 'हे मेरे स्वदेश' नामक रचना में नोआखली और बिहार के दंगोंकी याद ताज़ा है। परन्तु तब भी कवि वहां अपने जीवन-दर्शन को भूला नहीं है। उसकी अंतिम पंक्ति अवधेय है—

और एक अकेली किरण, व्यूह में जाकर कैसे लड़ती है ?

इसी में अन्य भी अनेकों ऐसी कविताएं हैं। प्रसाद ने 'अशोक की चिंता' लिखी थी। दिनकर ने उसे ही 'कलिंग-विजय' के नाम से लिखा है। पर दोनों के दर्शन में आकाश-पाताल का अन्तर है। कवि अशोक को पराजित चित्त वाला नहीं बताता। वह केवल 'करुणा की हिलोर' में बह जाने वाला भी उसे नहीं बताता। उसकी विवेचना इन शब्दों में आ जाती है :

गिर गया हतबुद्धि सा थककर पुरुष दुर्जेय,
प्राण से निकली अनामय नारि एक अमेय।
अर्धनारीश्वर अशोक महीप,
नर पराजित, नारि सजती है विजय का दीप।'

इसमें कवि नारी द्वारा कोमल भावनाओं को प्रतिनिधित्व देता है। वह अशोक से कहलवाता है—

हो नहीं क्षन्तव्य जो मेरे विगर्हित पाप,
दो वचन अक्षय रहे यह ग्लानि, यह परिताप ।
प्राण में बल दो, रखूं निज को सदैव संभाल,
देव, गर्बस्फीत हो ऊंचा उठे मत भाल ।।

यहां कवि कोमल भावनाओं के साथ सम्राट् के स्वाभाविक वीरत्व-मय भावों को भूल नहीं बैठता, और उसे एकदम नपुंसक नहीं बना देता। यहीं उसका प्रसाद से अन्तर है। इसी प्रकार के भाव हम और कविताओं में भी देख सकते हैं। नेताजी सुभाष बोस के प्रति उसकी भक्ति और श्रद्धा उसकी स्वतन्त्र चेतना को बताती है। यही बात इसी ज्वाला के विविध रंगों को धारण करने वाले अन्य तीनों काव्यों में भी प्रगट हुई है। '**रसवन्ती**' और '**रेणुका**' में कवि ने कहीं-कहीं कोमल भावनाओं का आश्रय लिया है। परन्तु, यहां भी वह एकदम तेजहीन नहीं हो गया है। '**रेणुका**' के तृतीय खंड का आरम्भ होता है '**फूंक दे जो प्राण में उत्तेजना**' से। इस खंड में उसने कोमल भावों को ही आश्रय नहीं दिया है। उसमें बहुत कुछ और भी निहित है। इतिहास के सत्यों को कवि ने जीवन में उतार कर परखना चाहा है। '**समाधि के प्रदीप से**' और '**वैभव की समाधि पर**'—दोनों कविताएं इतिहास के आंसू ही नहीं हैं; उनमें कुछ गहरा-पन है—जीवन का दर्शन है। '**द्वन्द्व गीत**' का अपना महत्व है। उसमें मानव की द्वन्द्वात्मक स्थिति का सुन्दर चित्रण हुआ है। उसमें मानवीय भावनाओं का अन्तर्विरोध कवि की दृष्टि को लेकर सामने आया है। '**रसवन्ती**' में भी केवल कोमल भावनाओं को ही बल नहीं मिला है, बल्कि उसमें कवि की दूसरी कुछ भावनाएं भी पोषक रूप में सामने आई हैं। कवि वास्तव में भोग और शौर्य को एक-दूसरे का विरोधी नहीं समझता। वह तो शौर्य को भोग का और भोग को शौर्य का पोषक मानता है। सच यह है कि कवि जीवन के खुले उपभोग में विश्वास रखता है। वह किसी भी रूप में संकोच का इच्छुक नहीं है।

'**कुरुक्षेत्र**' के लगभग साथ ही '**सामधेनी**' का प्रकाशन हुआ। दोनों ही

सन् १९४६ तक के कृतित्व का प्रतिनिधित्व करती हैं। 'कुरुक्षेत्र' के विषय में अन्यत्र काफी कुछ कहा गया है। यहां इतना कह देना ही अभीष्ट होगा कि कवि यहां दार्शनिक रूप में सामने अधिक आया है, राष्ट्र के जोशीले कवि के रूप में नहीं। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी यौवन चेतना अथवा ज्वाला के प्रति उसका अनुराग समाप्त हो चुका है। सच तो यह है कि यहां उसका अनल-दर्शन अधिक प्रौढ़ और स्थिर रूप ग्रहण करके यहां सामने आया है। जीवन और जगत् की विवेचना यहां **व्यक्ति, समाज और राष्ट्र** के स्तर से होती हुई **अन्तर्राष्ट्रीय** स्तर तक हुई है। कवि ने समाजवाद का विश्लेषण भी इसमें किया है। सच यह है कि इससे पहले कवि ने जन-जन की समानता के नारे पर उतना बल नहीं दिया था, जितना कि इसमें दिया है। कारण यह कि वह पहले स्वातन्त्र्य की भावना में उलझा हुआ था; परन्तु अब, स्वतंत्रता प्राप्ति को हाथ में आया देखकर, वह चिंतन की गहरी मुद्रा में डूबकर देश के भविष्य के प्रश्नों पर विचार करने के लिए तैयार हो गया है। यहां वह दलगत राजनीति के पचड़े से भी ऊपर उठ जाता है।

इस रचना के बाद काव्य-क्षेत्र में आगत उसकी तीन रचनाएं ही विशेष मुख्य हैं—'रश्मिरथी', 'उर्वशी', और 'परशुराम की प्रतीक्षा'। इनके अतिरिक्त 'बापू' और 'इतिहास के आंसू' भी दो रचनाएं सामने आई हैं, परन्तु, उनका महत्व अपेक्षाकृत कम रह जाता है। **'इतिहास के आंसू'** में कवि ने अपने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन का निचोड़ सामने रखा है। पर बाकी तीनों कृतियां प्रबंधकाव्य की दिशा में अच्छे प्रयास हैं। पहली दोनों कृतियां स्वयं महाकाव्य अथवा प्रबन्धकाव्य की कोटि में रखी जा सकती हैं। तीसरी कृति की सर्वप्रथम रचना भी खंड-काव्य के ही अन्तर्गत ठहरती है। उसके विषय के अनुरूप विचारधारा की कुछ अन्य रचनाओं को जोड़कर, पुस्तक का आकार देने की दृष्टि से, इसे ग्रन्थ रूप दे दिया गया है; अन्यथा इसका महत्व मुख्यत: प्रथम रचना के कारण ही है। उस प्रथम रचना में ही कवि ने अपनी भाव-

नाओं को सही रूप में व्यक्त किया है।

पहली दोनों रचनाओं में से **'रश्मिरथी'** में महावीर कर्ण के जीवन का आधार लिया गया है। कर्ण समाज के अन्यायों और अत्याचारों का प्रतिनिधि है। वह कवि की सहानुभूति को इसीलिए पा सका, कि वह हमारी संस्कृति के एक ऐसे कमजोर पहलू पर वार करता है, जिस पर कवि का ध्यान पहले से ही—'कुरुक्षेत्र' से ही—खिंच चुका था। 'उर्वशी' महाकाव्य एक व्यापक आधार पर लिखा गया है। साधारणतः यह नर-नारी की प्रेम समस्या को लेकर लिखा गया **'प्रम-काव्य'** दिखाई देता है। जबकि वास्तव में कवि ने इसमें अपना सम्पूर्ण जीवन-दर्शन निबद्ध कर दिया है। यह जीवन-दर्शन वैयक्तिक और सामाजिक स्तर पर अधिक हुआ है। यह बात तब तक पूरी स्पष्ट न होगी, जब तक हम यह ध्यान न रखें कि 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' में कवि ने सामाजिक समस्याओं को अधिक गहराई के साथ उठाया है। इसीलिए यहां वह व्यक्ति की ओर मुड़ा है। उन रचनाओं में बहिरंग जीवन की विवेचना अधिक हुई थी। इसमें उसके अंतरंग जीवन की विवेचना अधिक हुई है। कवि का जीवन-दर्शन समाज और व्यक्ति के लिए एक से ही निष्कर्षों को लेकर बढ़ा है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' देश की सम-सामयिक समस्याओं की प्रतिक्रिया में सामने आई। परन्तु इसमें कवि ने राष्ट्रीय जीवन की समस्याओं को जिस रूप में लिया है, उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि यह भावना उसकी बहुत गहरी पैठ और विवेचना का परिणाम है। उसने जिस **प्रतीक्षा** का वर्णन किया है, वह एकाएक सजग हो उठने वाली चीज़ नहीं है। उसके मन में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से जो एक कचोट-सी उठ रही थी, वह संचित होकर समय पाते ही बाहर आ गई। उसने राष्ट्र के सम्पूर्ण राजनीति-दर्शन पर एक साथ ही वार कर दिया। इस बार वाणी में 'हुंकार' का तेज लेकर भी, वह दर्शन की गरिमा को लेकर उठा। लगता है कि इसमें न तो वह 'हुंकार' का जोशीला युवक रहा है,

और न ही 'कुरुक्षेत्र' का विचारक कवि। यहां वह युग-नेता के रूप में एक बहुत कठोर संकेत करता हुआ उठा है। उसने **आग का गीत** फिर से गाया है। पर इस बार उसके पीछे तर्क का बल है। वह अधिक प्रताड़ना का स्वर लेकर उठा है।

इसके बाद जो दो नये 'संग्रह' इसके सामने आये हैं, उनमें से **'कोयला और कवित्व'** अधिक विचारणीय है। डी० एच० लॉरेंस की कविताओं की छाया पर रची गईं उसकी कविताएं भी कम उपेक्षणीय नहीं हैं। इन रचनाओं में वह विचारक अधिक हो उठा है।

गद्य—गद्यकार के रूप में दिनकर के अनेक रूप हमारे सामने आते हैं। निबंधकार, आलोचक, इतिहासकार और गद्य-काव्य-रचयिता के रूप इनमें अधिक मुख्य हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध का सम्बन्ध उसके कवि रूप से ही अधिक होने के कारण यहां हम उनकी इन समस्त रचनाओं की विवेचना को लक्ष्य लेकर नहीं चले हैं, किन्तु फिर भी इतना कह देना अधिक उचित होगा कि **'दिनकर,' गद्य के क्षेत्र में भी, पद्य क्षेत्र से, पीछे नहीं रहे हैं।** अन्तर यही है कि कहानी, उपन्यास अथवा नाटक के क्षेत्र को उसने अपने लिए नहीं चुना। अन्यथा वह उनमें भी सफल ही रहता। उसकी सफलता का श्रेय उसके कवित्व को है, जिसे वह अपने गद्य में भी छोड़ नहीं पाया।

फिर भी यहां इनमें से हम कुछ कृतियों को विवेचना योग्य समझते हैं। आलोचना के क्षेत्र में **'काव्य की भूमिका'** और **'पंत, प्रसाद और मैथलीशरण'** नाम की दो कृतियां मुख्य हैं। इन दोनों में ही लेखक ने कुल चौदह निबन्धों के द्वारा हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में अपने अध्ययन को प्रस्तुत कर दिया है। 'काव्य की भूमिका' में उन्होंने रीतिकाल, छायावाद और प्रयोगवाद आदि पर ही विचार नहीं किया है, बल्कि काव्य के सही स्वरूप और काव्यालोचन के सिद्धान्तों पर भी विचार किया है। दूसरी कृति के तीनों ही निबन्ध अत्यधिक मुख्य हैं। इनमें आलोचक 'दिनकर' के अध्ययन का परिणाम ही सामने नहीं आता, बल्कि एक नई आलो-

चना-दृष्टि भी हमारे सम्मुख आती है। इनमें उसका अहंभाव या आत्मसम्मान कहीं भी अड़चन बनकर नहीं आया। उन्होंने तीनों ही प्रसिद्ध कवियों के **कु** और **सु** को सामने लाने का प्रयास किया है।

इनके अतिरिक्त उनकी पुरानी रचनाओं में से 'मिट्टी की ओर' और 'अर्ध-नारीश्वर' अधिक प्रसिद्ध हैं। **'अर्धनारीश्वर'** में कवि **निबन्धकार** के रूप में सामने आया है। इस ग्रन्थ के निबन्ध शोधपरक वृत्ति के अधिक हैं। इनमें काव्य, समाज और राष्ट्र सभी कुछ आ जाता है; पर फिर भी मुख्यता काव्य अथवा साहित्य को ही मिली है। कवि का गद्य कितना कवित्वपूर्ण है, और उसका अध्ययन और विवेचन कितना सतर्क है? यह बात इस रचना से सामने आ जाती है। **'मिट्टी की ओर'** भी अपने समय की प्रसिद्ध रचना मानी गई है। इसे आलोचकों ने प्रगतिवादी आलोचना की प्रतिनिधि रचना स्वीकार किया था।

इनके अतिरिक्त कवि के जीवन का श्रम एक और गद्य-रचना के रूप में सामने आया है। यह रचना है **'संस्कृति के चार अध्याय'**। इसमें कवि ने राष्ट्रीय संस्कृति का विवेचन करके अपने इतिहास-सम्बन्धी अध्ययनों का निचोड़ एक जगह एकत्रित कर दिया है। कवि यहां पर एक ऋषि की भांति, युग-विवेचक ही नहीं, युग-निर्माता का भी उत्तर-दायित्व लेकर बढ़ा है। कवि ने राष्ट्रीय समस्याओं और सांस्कृतिक उल-झनों को इतिहास के प्रकाश में पढ़ना चाहा है। इस ग्रंथ की उपयोगिता इसमें नहीं है कि इसकी भूमिका स्व० नेहरू ने लिखी है, बल्कि इसकी उप-योगिता इस बात में है कि इसमें इतिहास और संस्कृति के किसी भी जिज्ञासु छात्र के लिए वह सम्पूर्ण सामग्री मिल जाती है, जिससे कवि की जीवन-दृष्टि और उसकी सामाजिक-चेतना का पूरा-पूरा आभास मिल सकता है, और उसका सम्पूर्ण काव्य आसानी से समझ में आ सकता है।

शेष कृतियों में उसकी कुछ निबन्ध रचनाएं और एक लघु-कथा-संग्रह अधिक प्रमुख हैं। यहां हम 'वट-पीपल' और 'उजली आग' का उल्लेख करना अधिक उचित समझते हैं। **'उजली आग'** को गद्य-काव्य

की कृति कहना अधिक उचित है। इसे कवि ने ख़लील जिब्रान की **गद्य रचनाओं** के नमूने पर लिखा है। परन्तु इसमें पर्याप्त नवीनता भी है। विस्तार में इसकी रचनाएं, उसकी अपेक्षा पर्याप्त, बढ़ गई हैं। इसमें प्रत्येक विषय को एक स्वतन्त्र रचना का आधार बनाया गया है। पर फिर भी इसमें कुछ तीव्रता और वेग ऐसा है कि पाठक का ध्यान उस ओर खिचे बिना नहीं रहता। स्पष्ट बात तो यह है कि यहां कवि का, आलोचक या निबन्ध का रूप मुख्य न होकर, केवल कवि रूप ही मुख्य रहा है।

'वट-पीपल' कवि के मिले-जुले निबन्धों का संग्रह है। इसमें कवि ने हिन्दी साहित्य और विश्व साहित्य के कुछ साहित्यकारों के प्रति अपनी श्रद्धांजलियां प्रस्तुत की है। परन्तु इन्हें साधारण श्रद्धांजलियों से भिन्न ही समझना चाहिए। आलोचक और कवि 'दिनकर' यहां केवल प्रशंसक बन कर नहीं रह गया है। उसकी अपनी चेतना और दृष्टिकोण सदा सजग रहा है। जायसवाल, राहुल, नवीन, पन्त, वरेरकर, रुक्मिणी देवी, एवं अन्य कुछ कवियों के प्रति रचनाएं इसी प्रकार की हैं। इन्हें केवल जीवन-चरित के परिचायक निबन्ध नहीं कहा जा सकता। कुछ अन्य निबन्धों में साहित्य, संस्कृति, राजनीति और इतिहास की बात प्रमुख है। इन सभी में कवि का विवेचनात्मक दृष्टिकोण उभरकर सामने आता है।

संग्रह-काव्य—कवि की छोटी-काव्य कृतियों में **'सीपी और शंख'** को कुछ अधिक मुख्यता मिली है। इसमें कवि ने विश्वभर की मुख्य कविता शैलियों का अनुकरण करने का यत्न किया है। उसने आरम्भ में ही लिख दिया है, **'सीपी और शंख'** की कविताएं मौलिक जैसी लगती हैं, किन्तु वे मौलिक हैं नहीं। वह स्वयं इन कविताओं को दूसरों की छाया मात्र मानता है। पूरी तरह 'अनुवाद' भी इन्हें इसीलिए नहीं कहा जा सकता। पर आश्चर्य की बात यह है कि रूस में दिनकर की जिन कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है, उनमें इसी संग्रह की रचनाओं को अधिक मुख्यता मिली है। 'ऋण-ज्ञापन' के नाम से कवि ने अन्त में जो एक सूची हमें दी है, उससे यह कतई स्पष्ट हो जाता है कि ये रचनाएं किन प्रेरणाओं से

लिखी गई है। फिर भी यह बात स्पष्ट है कि कवि यहां दूसरों का अन्धानुगामी नहीं रहा है।

'नये सुभाषित' एक और संग्रह-ग्रंथ है। इसमें कवि ने लगभग सौ विषयों पर दो सौ के लगभग पद्य दिए हैं। किसी विषय पर एक पद्य है और किसी पर कुछ अधिक। मुक्तक की दृष्टि से इस काव्य का अपना महत्व है। इसमें साहित्य राजनीति, धर्म, संस्कृति, राष्ट्र और राष्ट्रनेता आदि सभी के विषय में कवि की अपनी विचारधारा सामने आ गई है। कह सकते हैं कि कवि ने यहां हर विषय पर 'पाद-टिप्पणी' मात्र ही दी है। जीवन के सामान्य नीतिपरक विषयों पर भी उसने कलम चलाई है।

'सूक्ति-तिलक' एक नया संग्रह ग्रन्थ है। इसमें दिनकर की नई सूक्तियां और कुछ फुटकर कविताएँ संग्रहीत हैं। ख्रुश्चेव के प्रथम भारत आगमन पर उसके स्वागत में लिखी कविता भी इसमें संकलित है।

इसके अतिरिक्त **'चक्रवाल'** आदि अन्य संग्रह भी हैं; पर आलोचना की दृष्टि से उनका विशेष महत्व नहीं है।

यही है कवि दिनकर की काव्य-साधना और उसकी कृति-राशि।

५

दर्शन : ताप और प्रकाश

दिनकर का काव्य देश के स्वतंत्रता-संग्राम और उसकी आर्थिक स्थिति से इतना मिल कर चला है कि उसमें किसी प्रकार की विशेष दार्शनिक पृष्ठभूमि को खोज निकालना महत्वहीन दिखाई देता है। वह स्वयं भी अपने काव्य में किसी प्रकार के दर्शन या दार्शनिक पहलू को स्वीकार करने को तैयार नहीं है। बहुत से आलोचक उसे प्रगतिवादी मानते हैं। उनके अनुसार प्रगतिवाद का दार्शनिक आधार समाजवाद के राजनैतिक सिद्धान्त पर टिका हुआ है। परन्तु, दूसरी ओर समाजवाद ने अपना एक स्वतंत्र दर्शन भी बना लिया है। यह दर्शन समाजवाद में दो दृष्टियों से बहुत उपयोगी है। ईश्वर को न मान कर भी, इसके अनुसार, मनुष्य को समान माना गया है, और उसे हर प्रकार के समान अवसर देने का विश्वास दिलाया गया है। इसके लिए समाज को कुछ वर्गों में बँटा हुआ सिद्ध करके उसे वर्गहीन बनाने की घोषणा की जाती है, और इसके लिए हिंसा को आवश्यक माना जाता है।

यह सिद्धान्त देखने में सारे मनुष्य-समाज की धर्म-सम्बन्धी सभी धारणाओं के विरुद्ध जा पड़ता है। विशेषकर भारतीय और पश्चिम एशिया के धर्म मनुष्यमात्र में प्रेम पर ही बल देते हैं। प्रेम ही वह एक-मात्र सूत्र है, जिसके द्वारा सारा मनुष्य-समाज समान रूप में, और एक-साथ, जोड़ा जा सकता है। यह सब बात जानने के बाद यह कहना अनुचित होगा कि 'दिनकर' समाजवाद के दर्शन में, या पूर्व अथवा पश्चिम के (आध्यात्मिक) दर्शन में से किसी एक पर, विश्वास रखते हैं। व्यक्तिगत रूप में उनका किस दर्शन या धर्म पर विश्वास है, यह कहना

सरल है। परन्तु, उनके काव्य में किस दर्शन को अपनाया गया है, यह कहना इतना सरल नहीं है। दिनकर भले ही प्रगतिवादी हों, परन्तु उनका काव्य समाजवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों पर किसी रूप में आधारित नहीं है। यह बात हम प्रगतिवाद की विवेचना करते हुए एक पृथक् अध्याय में स्पष्ट करेंगे। 'उर्वशी' पर विचार करते हुए हम यह भी स्पष्ट करेंगे, कि कवि भारतीय संस्कृति और धर्म पर भी अन्धा विश्वास नहीं रखता। वह उनमें भी नये प्राणों की प्रतिष्ठा करना चाहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'दिनकर' का काव्य किसी दर्शन की व्याख्या के लिए नहीं लिखा गया।

परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि दिनकर के काव्य में किसी भी प्रकार का दर्शन नहीं आया है। किसी भी कवि का काव्य शुरू से अन्त तक एक न एक निश्चित विचारधारा से प्रभावित रहता है। यह विचारधारा कहीं-कहीं बदल भी सकती है। पर तो भी, इसका विकास एक कड़ी के रूप में अवश्य खोजा जा सकता है। हर कवि के कुछ अपने विश्वास होते हैं। उनकी विवेचना ही उसके दार्शनिक दृष्टिकोण को स्पष्ट कर सकती है। दर्शन किन्हीं निश्चित बंटे हुए विचारों का नाम नहीं है। किसी भी सधे हुए व्यक्ति या कवि की विचार-दृष्टि को ही उसका 'दर्शन' कहा जा सकता है। इसी आधार पर हम 'दिनकर' की आरम्भ से अन्त तक बढ़ने वाली काव्य-धारा में से कुछ निश्चित बातें खोज कर सामने रख सकते हैं, जिन्हें हम उसका 'दर्शन' कहेंगे। यहां दिनकर के उन्हीं विचारों का विश्लेषण किया जायेगा। इतनी बात आरम्भ में ही कह देना उचित होगा कि 'दिनकर' का काव्य चाहे युद्ध का रहा हो या प्रेम का उसमें एक ही निश्चित दर्शन पाया जाता है। उसका यह **दर्शन** आरम्भ से अन्त तक बराबर एक ही चलता आया है।

यथार्थ और अध्यात्म—'दिनकर' आरम्भ से अन्त तक यथार्थ के कवि रहे हैं। उसकी दृष्टि में यथार्थ का अर्थ अपने समय की सबसे बड़ी आवश्यकता की ओर ध्यान देना रहा है। उस समय के युग में,

आर्थिक और सामाजिक समस्याओं की अपेक्षा, देश की स्वतंत्रता की समस्या अधिक बड़ी थी। जब तक देश स्वतंत्र न हो जाए, तब तक आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन न तो ठीक तरह हो सकते हैं, और न उनके पीछे राज्य का बल रहता है। प्रगतिवादियों ने आर्थिक संघर्ष और उन सुधारों की आवाज़ अपने समय में बहुत अधिक उठाई। उन्होंने, और दूसरे राष्ट्रवादी कवियों ने भी, समाज के सुधार की बात भी उठाई। पर, सचाई यह थी कि जब तक समाज और देश राजनैतिक दृष्टि से स्वतंत्र न हो जाएं, तब तक और सब क्रांतियाँ व्यर्थ थीं। इस बात को पहचान कर दिनकर ने स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व के साहित्य में केवल **राष्ट्रीयता** और **स्वतंत्रता** की बात को ही अधिक उठाया। उस समय तक के काव्य में भी **शृंगारी काव्य** की कुछ रचना उन्होंने की ही थी। परन्तु, इस काव्य में भी वह यथार्थ की बात को छोड़ नहीं पाए हैं।

स्वतंत्रता प्राप्ति से कुछ पूर्व सन् १९४६ में ही **'कुरुक्षेत्र'** सामने आया। इस काव्य में भारत की भावी राजनैतिक समस्याओं पर विचार किया गया था। इसके साथ ही इसमें अतीत की हमारी राजनैतिक धारणाओं का भी विवेचन किया गया था। स्वातंत्र्य-प्राप्ति में हमने जो भी उपाय बरते, उनसे हमारी एक विशेष दृष्टि का आभास मिलता है। उस समय हमारी समस्याएं, और उनके प्रयत्नों पर सीमाएं, कुछ और थीं। इसलिए यदि समय विशेष के लिए उस नीति को स्वीकार कर भी लिया जाय, तो भी राष्ट्र के भावी स्वरूप पर विचार करते हुए उसमें सुधार की गुंजाइश से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस काव्य पर विशेष विचार करते हुए हम यह स्पष्ट करेंगे कि **'कुरुक्षेत्र' केवल यथार्थ का चितेरा सामान्य काव्य नहीं है, बल्कि इसमें गम्भीर चिंतन भी अंतर्हित** है। इस चिंतन का आध्यात्मिक चिंतन से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। पर, तो भी इसे उस चिंतन से सर्वथा स्वतंत्र और मुक्त नहीं कहा जा सकता। लगता है यहां आकर कवि अध्यात्म को यथार्थ का एक अभिन्न अंग मानने लगा है। ईश्वर या आत्मा पर विचार न करके भी

कोई दर्शन आध्यात्मिक रह सकता है। यदि हम किसी विचार को केवल भौतिक सीमाओं में ही ग्रहण न करके, उसे किसी आन्तरिक आस्था का विषय बना देते हैं, तब वह दर्शन आध्यात्मिक हो उठता है। 'कुरुक्षेत्र' का प्रत्यक्ष भौतिक दर्शन इसी आधारभूमि पर आकर आध्यात्मिक हो उठता है। कवि ने समाजवाद की अनिवार्य भौतिक आवश्यकता को भी आध्यात्मिक स्तर पर लाकर ही विचार किया है। आत्मा से उठने वाले विश्वास के बल पर कोई भी भौतिक विचार, अपना भौतिक रूप खोकर, आध्यात्मिक महत्व का बन उठता है। यहां वह केवल तर्क का विषय न रह कर, विश्वास और कर्त्तव्य का विषय बन जाता है। युद्ध भी, इस प्रकार, एक भौतिक अनिवार्यता न रह कर महत्वपूर्ण दायित्व का विषय बन जाता है।

'उर्वशी' और **'रश्मिरथी'** में कवि ने यथार्थ का पूरा ध्यान रखा है। उसने समाज और व्यक्ति की परिस्थितियों का ध्यान रख कर कुछ समस्याओं को उठाया। उन दोनों ही काव्यों में कवि भारत की संस्कृति या मानव की आत्मा के महत्व को भूल नहीं पाया। उसे मानव की आत्मा का उतना ही ध्यान रहा है, जितना कि समाज के बहिरंग जीवन का। उसने समाज की समस्याओं में पूरी रुचि ली है। साथ ही नर और नारी की बीच की सदा से चली आने वाली समस्या पर भी उसने विचार किया है, पर यहां वह उस समस्या को नर-नारी की समस्या मात्र न रख कर, उसे एक शाश्वत समस्या के रूप में पलट देता है। उसने जीवन के त्याग और भोग अथवा कर्म और फल के बीच समन्वय का मार्ग ढूंढना चाहा है। मनुष्य की कल्पनाएं उसे दुःख से भागने को कहती हैं, और कवि उस दुःख को प्यार से अपनाने को कहता है। **परशुराम की प्रतीक्षा** में भी प्रत्यक्षतः वह यथार्थ का ही वर्णन कर रहा है, किन्तु आचार और जीवन के मूल्य को उसने कम नहीं होने दिया।

इस प्रकार उसके काव्य में यथार्थ और अध्यात्म एक दूसरे के

पोषक बन कर आये हैं। इनमें किसी भी विरोध को खोज निकालना उचित नहीं है। न वह अध्यात्म का विरोधी है और न ही, प्रगतिवादियों की भांति, वह यथार्थ के चित्रण तक ही रुक जाता है। यथार्थ का अर्थ उसने भौतिकवाद की उपासना से ही नहीं लिया। उसमें जीवन का सत्य भी है और सुन्दर भी।

संस्कृति और अध्यात्म—राष्ट्रीय स्वातंत्र्य और यथार्थ के प्रति इतना जागरूक रहकर भी कवि का रुझान आरम्भ से ही संस्कृति और उसके विविध पहलुओं की ओर रहा है। उसने आरम्भ से ही भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त की है। पर, विद्रोही होने के कारण वह आँखें बंद करके उसका समर्थन सर्वत्र नहीं कर सका है। वह एक समीक्षक मन लेकर आरम्भ से ही सांस्कृति, प्रश्नों पर विचार करता रहा है। इतना ही नहीं उसने आरम्भ से ही युगानुरूप सुझाव भी प्रस्तुत किए हैं। वह सब कुछ तोड़ने-फोड़ने के हक में ही नहीं है। उसने बहुत कुछ नई बातें भी सुझाई हैं। इसके साथ ही वह प्राचीन के सर्वांशतः त्याग के लिए भी उद्यत नहीं है। उसकी दृष्टि में हमने बहुत सी बातों को स्वयं गलत समझा है। इसलिए कवि का कहना यह है कि जिन सिद्धान्तों को गलत समझकर हमने समाज, राजनीति, और धर्म के क्षेत्र में अवनति प्राप्त की है, उन बातों का नये सिरे से मूल्यांकन होना चाहिए। कवि ने आरम्भ से ही इन बातों पर विचार किया है। उदाहरणार्थ हम उसके संन्यास-विषयक विचारों को ले सकते हैं। इस दिशा में कवि का अपना मत 'गीता' के मत से अभिन्न दिखाई देता है। **सन्यास** और **कर्म मार्ग** में से वह **कर्म मार्ग** को ही श्रेयस्कर समझता है। इतना ही नहीं, कर्त्तव्य के पथ पर चलते हुए **मृत्यु** और **हिंसा** को वह उचित ही ठहराता है। बलिदान और वीरता की यह अदम्य भावना उसके काव्य में कूट-कूट कर भरी हुई है। स्पष्ट है कि उस पर सबसे अधिक प्रभाव 'गीता' का ही रहा है। 'गीता' को यदि दर्शन कहा जा सकता है, तो कवि भी उसी दर्शन का अनुगामी रहा है।

'दिनकर' की दृष्टि में भारत और भारतीय संस्कृति का सबसे अधिक पतन और अवनति बौद्ध-दर्शन के कारण हुई है। आज जब हम बौद्ध दर्शन की बात करते हैं, तब विश्व के दुख से घबराकर उसे एक मात्र शान्ति का स्थल कह देते हैं। आज के दुःखी मानव के लिए यह बात उचित भी है। परन्तु ऐसा कहते हुए हम एक तथ्य की उपेक्षा कर जाते हैं। वह यह कि यदि हमने सही रूप में अपने वैयक्तिक जीवन में भी उसी सन्यास मार्ग को अपना लिया, और सामाजिक रूप में भी संघ-बद्ध सन्यास मार्ग को स्थान दिया, तब विश्व की जीवन-यात्रा में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाएंगी। ऐसा दर्शन उस विश्व में तो चल सकता है, जहां कोई भी एक दूसरे के प्रति घृणा से परिचालित न हो। पर जब हम यह पाते हैं कि समस्त विश्व का जीवन आखिर घृणा और छल से कतई रहित नहीं हो सकता, तब हमें यह भी स्वीकार करने को उद्यत रहना चाहिए कि विश्व में छल के विनाश के लिए सतर्कता और बल के प्रयोग की आवश्यकता भी है। इसी दृष्टि से कवि यह मान कर चलता है कि हमने, बुद्ध के करुणा-दर्शन को भारतीय संस्कृति का अंग मानते हुए, वास्तविक सत्यों की जो उपेक्षा कर दी, वह हमारी सबसे बड़ी त्रुटि थी। बौद्ध-दर्शन स्वयं एक प्रतिक्रिया में उत्पन्न हुआ था। उसे सदा-सर्वदा के लिए सभी जगह पर लागू नहीं किया जा सकता। यह बात कवि ने 'संस्कृति के चार अध्याय' में पूर्णतः स्पष्ट की है।

यह बात केवल बौद्ध-दर्शन तक ही सीमित नहीं है। और भी बहुत से दर्शनों ने हमारी संस्कृति को प्रभावित किया है, और उसे मूल से विचलित हो जाने पर बाध्य किया है। 'दिनकर' इस सत्य को बिना विवेचना के नहीं छोड़ सकते थे। इसलिए उनकी लेखनी इस विषय में आरम्भ से ही अत्यन्त कठोर रही। यहीं आकर वे प्रगतिवादियों से एक-दम भिन्न हो जाते हैं। प्रगतिवादी कवि जिस सत्य को मानकर चलते हैं; उसमें वे सामाजिक आवश्यकता और परिस्थितियों का ही ध्यान रखते हैं। अध्यात्म को वे एक व्यर्थ की कल्पनामात्र स्वीकार करते हैं।

समाज की सामान्य समस्याओं पर विचार करते हुए, वे उसे स्थान नहीं देते। इसीलिए उनका सांस्कृतिक दर्शन, और मानवता के प्रति उनकी भावना, भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं बैठती। 'दिनकर' इस विषय में, अन्तर्राष्ट्रीयता का विचार न रखकर, राष्ट्रीय परिस्थितियों और संस्कृति का ध्यान अधिक रखते हैं। इन बातों का ध्यान रखते हुए प्रगितवादियों से उनका अन्तर स्पष्ट रूप में दिखाया जा सकता है।

'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय, में संस्कृति का जो विवेचन किया है, उससे भी यह बात भली-भांति सिद्ध हो जाती है। कवि संस्कृति के प्रति केवल उसके पुराना होने के कारण ही विद्रोही नहीं है, बल्कि वह कुछ निश्चित सुझाव और मान्यताएं लेकर बढ़ा है। अध्यात्म पर वह विश्वास रखता है। वह सबमें एक ही तत्व को अंतर्हित मानकर उनकी आत्मिक समानता पर भी विश्वास रखता है। उसका तर्क सीधा सा है : **आत्मा के एक होने पर मनुष्यमात्र में यह भेद क्यों?** 'कुरुक्षेत्र' में वह बैठता है : **आखिर इस सब अन्याय और अत्याचार को सहकर ही यदि शान्ति पानी है, तो उससे अच्छा है लड़कर अपने अधिकारों को पा लेना। मनुष्य को ठीक तरह जीना न मिले, तो वह शान्ति बेकार है। सच्ची शान्ति तो तब हो सकती है, जब मानवमात्र समान हो।** इसका कारण वह बताता है मनुष्य की अपने व्यक्तिगत स्वार्थों पर ही बल देने की भावना को! केवल इसी कारण मनुष्य मनुष्य से घृणा और द्वेष करने लगता है। मानव मात्र में प्रेम यदि उत्पन्न हो जाए, तब विश्व में युद्ध रह भी क्यों जाए? आज के समाजवाद को जो हिंसा और बल का प्रयोग करना पड़ रहा है, वह केवल इसी कारण कि मनुष्य ने अपने व्यक्तिगत उत्तरदायित्वों को ठीक ढंग से नहीं पहचाना। वह व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का अर्थ लेता है—अपने और अपने परिवार के भरण-पोषण मात्र से। मनुष्य यदि स्वयं को छोड़ कर औरों का भी ध्यान करे, और समष्टि की साधना में ही अपनी पूर्णता मानना शुरू कर दे, तब समाजवाद का उद्देश्य सरलता से ही पूरा हो जाएगा। पर, यह तभी

संभव है, यदि मनुष्य पहले स्वयं को **'मनुष्य'** समझना शुरू कर दे, न कि एक **व्यक्ति-विशेष**। स्वयं को सामान्य मनुष्य समझते ही वह अपने को स्वार्थों की भावना से रहित पाने लगता है, क्योंकि उसके सामने मानवता का या मनुष्यता का लक्ष्य ही सबसे बड़ा हो जाता है।

तज समष्टि को व्यष्टि चली थी, निज को सुखी बनाने।...
नर से नर का सहज प्रेम, उठ जाता नहीं भुवन से।...
रहता याद उसे यदि वह कुछ, और नहीं है नर है।...
तो न मानता कभी मनुज, निज सुख-गौरव खोने में।...
दे न सका नर को नर जो, सुख-भाग प्रीति से, नय से,
आज दे रहा वही भाग वह, राज्य-खड्ग के भय से।

इस प्रकार का चिंतन यह स्पष्ट संकेत देता है कि कवि आत्मा और परमात्मा की सत्ता मानने का विरोधी नहीं है। बल्कि, वह उनके आधार पर एक सम-समाज की रचना करने की इच्छा रखता है। ये दोनों चीजें समाज को बांटने वाली नहीं है। बल्कि, इनके द्वारा समाज को एकता के सूत्र में बांधा जा सकता है। अगर ऐसा नहीं हो सकता, तो कवि उस प्रकार के ईश्वर और आत्मा परमात्मा को भी मानने से इन्कार कर देता है। जो आत्मा केवल अपने दायरे में प्रसन्न है, और दूसरों के सुख और उत्थान से मतलब नहीं रखता, उसका होना न होना बराबर है। कवि यहां पर संन्यास और कर्म-मार्ग के इसी भेद को व्यष्टि और समष्टि के भेद से समझाता है।

एक पन्थ है, छोड़ जगत् को अपने में रम जाओ,
खोजो अपनी मुक्ति और निज को ही सुखी बनाओ।
अपर पन्थ है, औरों को भी निज विवेक-बल देकर
पहुंचो स्वर्ग-लोक में जग से साथ बहुत को लेकर।...
जिस तप से तुम चाह रहे पाना केवल निज सुख को,
कर सकता है दूर वही तप अमित नरों के दुख को।...

निज को ही देखो न युधिष्ठिर देखो निखिल भुवन को,
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में, निरत, व्यग्र जन-जन को।

इस प्रकार कवि, भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन और संस्कृति का उपयोग करके भी, एक पुराने ही सत्य को नये ढंग से और नये बल के साथ कहता है। **वह समाजवाद के शब्दों में बात करता है, परन्तु उसका प्रभाव अध्यात्मवाद का सा पड़ता है।** वह भारत की प्राचीन संस्कृति को पलायनवादी मानने से इंकार कर देता है। उसकी दृष्टि में संसार के कर्म-मार्ग से पलायन की भावना ही भ्रामक है। यह भावना, हमारी संस्कृति की अपनी न होकर, विदेश या वाह्य कही जा सकती है। कवि कार्यमार्ग ही एक अनिवार्य आवश्यकता बता कर उसका महत्त्व स्थापित करता है।

इस प्रकार हम यह देख सकते हैं कि **कवि ने अध्यात्म संस्कृति दोनों का ही उपयोग यथार्थ के पोषण के लिए किया है, न कि यथार्थ से दूर जाकर एक बये लोक की कल्पना के लिए।**

'कर्ममार्ग' और 'अनल-दर्शन'—इस पर भी प्रश्न यह उठता है कि फिर कवि के दर्शन अथवा उसके दार्शनिक विचारों को किस तरह स्पष्ट समझा जाए। कवि ने जिस ढंग पर अपनी बात को कहा है, उससे वह दार्शनिक प्रतीत नहीं होता। पर फिर भी, 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में कवि ने ऐसी बातें स्पस्ट रूप में कहीं हैं, जिनसे हम उसके दार्शनिक विचारों को, स्पष्ट करके, अलग रूप में देख सकते हैं। इन सब विचारों को यदि हम उसके 'हुंकार' से आरम्भ होने वाले समस्त काव्य की पृष्ठभूमि पर रख कर पढ़ें, तब यह स्पष्ट होगा कि यह दार्शनिक विचार उसके पहले विचारों से कतई भिन्न नहीं हैं।

हुंकार कवि का अनल-काव्य कहा जा सकता है। कहा जाता है कि उसमें कवि ने आग बरसाई है। उस युग के अनुरूप कवि के लिए यह आवश्यक भी था। नवयुवक कवि राष्ट्रीय भावनाओं से भरा हुआ था। उसकी पृष्ठभूमि में दयानन्द के उपदेश और उनसे आई निर्भीकता

तो थी ही, क्रान्तिकारियों का तेज और मैथिलीशरण गुप्त तथा उन जैसे अन्य कवियों का ओज भी मिला हुआ था। वह अपने गरजते स्वर को लेकर विद्यार्थी-कवि के रूप में उठा और अपना विद्याध्ययन करने तक वह राष्ट्र का एक प्रसिद्ध कवि बन चुका था। '**हुंकार**' उसी समय की रचना है। इसके बाद की रचनाओं में से, '**रसवं**' को छोड़कर, बाकी सभी रचनाओं में क्रमशः एक ही **आग** जलती हुई मिलती है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' फिर से उसी आग को जलते हुए रूप में लेकर उठी है। 'उर्वशी' काव्य की विवेचना में यह बताया जाएगा कि कवि प्रेम में भी उस आग के दर्शन करता है। वह यह नहीं चाहता कि प्रेम जीवन की जलती आग को बुझा डाले। वह उसे प्रेरणा का स्रोत मानकर चलता है। यदि जीवन में से यह आग निकल जाए, तो मनुष्य वीर रस से हीन ही नहीं हो जाता, बल्कि वह प्रेम के योग्य भी नहीं रहता। प्यार और भोग एक दूसरे पर आश्रित हैं। उन दोनों के लिए ही उत्साह चाहिए। उत्साह के विना जीवन शून्य है। और, यह उत्साह जीवन की अग्नि से ही आता है। इसके लिए पुरूरवा और उर्वशी के ये दो वचन पर्याप्त होंगे।

पुरूरवा—प्राण की चिर-संगिनी यह वह्नि, इसको साथ लेकर,
भूमि से आकाश तक चलते रहो।
मर्त्य नर का भाग्य !
जब तक प्रेम की धारा न मिलती, आप अपनी आग में जलते रहो।

उर्वशी—स्वर्णादी, सत्य ही, वह जिसमें ऊर्मियाँ नहीं, खर ताप नहीं,
देवता, शेष जिसके मन में कामना, द्वन्द्व, परिताप नहीं;
पर, ओ, जीवन के चटुल वेग ! तू होता क्यों इतना कातर ?
तू पुरुष तभी तक, गरज रहा, जब तक भीतर यह वैश्वानर।
जब तक यह पावक शेष, तभी तक सखा-मित्र त्रिभुवन तेरा,
चलता है भूतल छोड़, बादलों के ऊपर स्यन्दन तेरा।

यहां पुरूरवा इस आग से तंग आ गया दीखता है। तभी वह पूछ बैठता है :

वह्नि का बेचैन यह रसकोष, बोलो, कौन लेगा ?
आग के बदले मुझे संतोष, बोलो, कौन देगा ?

वह प्रेम को पाकर इस आग को बुझाना चाहता है। उसके अपने शब्दों के अनुसार—

मैं तुम्हारे रक्त के कण में समाकर, प्रार्थना के गीत गाना चाहता हूं।

पर उर्वशी कवि के दर्शन का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती है। वह अग्नि को केवल दाह का ही कारण नहीं समझती, बल्कि वह उसमें प्रकाश की बात खोजती है। **'परशुराम की प्रतीक्षा'** में में भी कवि इस अग्नि के इन दोनों रूपों को एक-दूसरे से सम्बद्ध मानता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं :

भव को न अग्नि करने को क्षार बनी थी
रखने को, बस, उज्ज्वल आचार बनी थी।'

इस प्रकार कवि का दर्शन जीवन के कर्म-मार्ग का दर्शन है। पर, उस कर्म-मार्ग का अर्थ प्रसाद द्वारा 'कामायनी' के रहस्य सर्ग में वर्णित कर्म-लोक के जीवन-सा भी नहीं है। अंधाधुंध कर्म करने को ही मानव की शक्ति का लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। मानव के कर्म की पवित्रता भी आवश्यक है। तभी मनुष्य की शक्ति का सच्चा उपयोग हो सकता है। जो मानव अपने कर्म को ठीक तरह नहीं पहचान पाता, या उस पर ठीक से अमल नहीं कर पाता, वह अपनी शक्ति का सही उपयोग नहीं करता। इसलिए अग्नि के दाह और प्रकाश दोनों रूपों की उपासना कवि ने की है।

परन्तु, उसका यह अर्थ भी नहीं कि कवि ऐसा कहते हुए हिंसा या उग्रता का संदेशवाहक बन गया है। वह सत्य की उपेक्षा करके किसी नये पथ पर नहीं बढ़ा है। उसने प्रेम और अहिंसा को उचित स्थान दिया है। परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन की कर्मण्यता को ऐसे किसी भी लुभावने स्वप्न पर लुटाकर समाप्त कर दिया जाए! इसीलिए जीवन के आदर्शों और कर्मों में विश्वास रखकर भी कवि गीता के संदेश को ही सर्वोपरि समझता है।

भौतिकवादी दर्शन और कवि की दृष्टि--प्रगतिवाद के उद्घोषक कवियों ने भौतिकवादी दर्शन के विषय में काफ़ी ज़ोर-शोर से और काफी कुछ लिखा है। 'दिनकर' भी उसी युग के कवि हैं। इसलिए उन पर भी इस प्रकार के दर्शन का, या दार्शनिक युक्ति-जाल का, प्रभाव पड़ना अनिवार्य सा प्रतीत होता है। पर, सत्य यह है कि कवि, भौतिकवादी युक्तिक्रम को अपना कर भी, उस दर्शन का अनुगामी नहीं बन सका है। वह अपने विवेचन में सर्वथा स्वतंत्र रहा है। उसने जीवन के सत्यों की विवेचना भारतीय संस्कृति के प्रकाश में ही की है। यह बात अलग है कि युक्तिक्रम उसने भौतिकवादी ढंग का ही अपनाया है। परन्तु, परिणाम केवल इतना ही रहा है कि वह भौतिकवाद के विरुद्ध उसी की युक्तियों को प्रयोग करने में अधिक सफल हुआ है। वह देह को नश्वर मानता है। संसार को भी वह नश्वर स्वीकार करता है। पर, इसके बाद भी मानव के कर्म पर उसका विश्वास है। उसकी जीवन में, और उसके परिणामों में, पूरी और गहरी आस्था है। यह बात '**कुरुक्षेत्र**' और '**उर्वशी**' के विवेचन से स्पष्ट हो जाएगी है।

कवि ने भौतिकवादी दर्शन के युक्तिक्रम का अधिक उपयोग, हमारे जातीय जीवन में आ जाने वाली विभेदात्मक एवं वर्ग संघर्ष को बढ़ाने वाली, बुराइयों को हटाने में किया है। कवि भौतिकवादी युक्तिजाल के द्वारा उन्हीं सत्यों का पोषण करता है, जिन्हें भारत की आध्यात्मिक संस्कृति के परिणामों ने स्थिर किया था, किन्तु जिन्हें आज हम किन्हीं वर्गीय स्वार्थों के कारण भुला बैठे हैं। मानवमात्र की समानता, शोषण की निंदा, शासक-शासित का अन्तर, और लोभ और स्वार्थ को 'धर्म' कह कर छलना, आदि कुछ ऐसी बातें है, जिनका विरोध हर दृष्टि से आवश्यक हो जाता है। आज के युग के महान् कवि रवीन्द्र और प्रसाद, महान् नायक गांधी और जवाहर, तथा महान् दार्शनिक दयानन्द, विवेकानन्द और राधाकृष्णन् भी मानवमात्र की समानता पर, अपने-अपने दृष्टिकोण और अपने-अपने युक्तिक्रम से, बल देते रहे हैं। कवि ने भी

इस समानता को आत्मा की वस्तु स्वीकार किया है। मनुष्यमात्र को अपने हृदय से ही यह समानता स्वीकार करनी चाहिए। पर, जब मानव अपने हृदय से यह समानता स्वीकार करने में असमर्थ हो जाता है, तब उस पर शासन और बल का प्रयोग भी आवश्यक हो जाता है। कवि ऐसी आवश्यकता का समर्थन न करके भी, किसी दशाविशेष में, उसकी अनिवार्यता पर बल देता है।

सारांश—हम कह सकते हैं कि कवि का दर्शन भौतिकवाद पर आधारित समाजवाद का दर्शन नहीं रहा है। न ही वह अध्यात्मवाद पर आधारित भारतीय दार्शनिक विचार पद्धति का पूरी तरह कायल रहा है। वास्तव में उसके परिणाम वही हैं, जो भारतीय संस्कृति ने अपनी सदियों की दौड़ में प्राप्त किए हैं। किन्तु उन्हें पुष्ट करने के लिए उसका युक्तिक्रम बिल्कुल अलग ढंग से चला है। कई बार यह युक्तिक्रम भौतिकवादी ढंग का लगता है। कुछ शब्दों में : **उसका दर्शन अध्यात्मवादी होकर भी कर्म-मार्ग पर बल देता है। वह गीता की भाँति जीवन के तेज और ओज का समर्थक है। इनका उपयोग अन्याय के दमन और न्याय की स्थापना के लिए होना चाहिए।** संस्कृत के निम्न दो पद्य उसकी बात को संक्षेप में कह देंगे—

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो, न च धूमायितं चिरम् ॥
परित्राणाय साधूनाँ विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ (गीता)

तेज और धर्म का यह समन्वय अथवा ब्रह्म और क्षत्र का यह संगम ही कवि को अभीष्ट है।

है अनल ब्रह्म, पावक-तरंग जीवन है ॥
सत्य है, धर्म का परम रूप यव-कुश है,
अत्यय-अधर्म पर परशु मात्र अंकुश है ॥

अनल के दाह और प्रकाश का यही संगम कवि का सच्चा दर्शन है। यही उसे अभीष्ट है।

६

दिनकर और प्रगतिवाद

आज का हिन्दी साहित्य का आलोचक प्रगतिवादी कवियों की गणना करते हुए 'दिनकर' को भी उनमें गिनता है। दिनकर के लिए इस प्रकार की मान्यता रखने में हमें भी कोई आपत्ति नहीं है। पर, प्रश्न इतना ही है कि क्या ऐसी मान्यता स्वीकार करने के बाद, हम 'दिनकर' के साथ न्याय भी करते हैं या नहीं। 'दिनकर' काव्य की जिस पृष्ठ भूमि पर आए, और जिस वेला में काव्यसृजन उन्होंने किया, उस पर विचार करने के बाद यह कहना प्रथम दृष्टि में तो उचित लगता है। परन्तु तनिक गम्भीरता में उतरने पर स्पष्ट हो जाता है कि या तो हम 'दिनकर' के साथ अन्याय करते हैं, या फिर 'प्रगतिवाद' के साथ! दिनकर काव्य की जिस पृष्ठभूमि पर आए थे, प्रगतिवादी कवियों ने भी उसी भूमिका पर काव्य का निर्माण शुरू किया था। पर फिर भी, उन दोनों में कुछ अंतर है, जो उनके काव्य, विषय, विचार और शैली को भिन्न-भिन्न स्तर पर स्थापित कर देता है। हम पहले इसी अन्तर पर विचार करेंगे।

अन्तर—अपने **'हिन्दी साहित्यानुशीलन'** में हमने यह बात स्पष्ट की है कि प्रगतिवादी कवि और 'दिनकर' जिस युग में काव्य रचना कर रहे थे, वह भारत के स्वातंत्र्य-संग्राम का युग था। हमें एक विदेशी शक्ति के विरुद्ध संघर्ष करना था। राष्ट्र में **पूंजीवाद** तो था, पर **उद्योगवाद** या उद्योगों का विकास उतना अधिक शुरू नहीं हुआ था। परिणामतः किसान का झगड़ा तो ज़मींदार से था, पर और किसी पूंजीवादी झगड़े की बात हमें अधिक नहीं दिखाई देती। हमारा संकेत पूंजीपति और मज़दूर के झगड़े से है। इन दोनों के संघर्षों के लिए, पृष्ठभूमिका के तौर पर, यह आवश्यक था

कि उस काल में उद्योगों का विस्तार आज के स्तर पर होता । उस समय सारे भारत में गिने-चुने उद्योग ही थे । परिणामतः मज़दूर और पूंजीपति के झगड़ों की बात को वढ़ा-चढ़ा कर पूंजीवाद के विरुद्ध आन्दोलन को खड़ा करना, उस युग में निरर्थक हो जाता ।

यह वात तभी स्पष्ट हो सकती है, जब हम यह भी ख्याल रखें कि उस समय राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य-संग्राम ही हमारे लिए सब कुछ बन चुका था । जो भी राष्ट्रीयता का नारा उस युग में न लगा पाया, स्पष्ट ही वह युग के यथार्थ के प्रतिकूल रहा । यह बात इस रूप में भी कही जा सकती है कि प्रगतिवाद का सच्चा आधार यथार्थ के सही विश्लेषण पर है । पर, यदि यथार्थ की सबसे बड़ी वस्तु को ग्रहण न किया जाए, बल्कि उसके स्थान पर एक ऐसा यथार्थ ले लिया जाए, जिसे अन्तर्-राष्ट्रीय मान्यता भले ही प्राप्त हो, पर जो हमारे राष्ट्र के लिए स्वयं दूर की चीज हो, तब ऐसा यथार्थ सच्चा यथार्थ, नहीं कहलाएगा । उस युग के प्रगतिवादी कहे जाने वाले काव्य में यही सबसे बड़ी कमी है। वहां अन्तर्-राष्ट्रीय समाजवाद के नारे को उठाकर श्रमिक और पूंजीपति के झगड़े को तो आवाज़ दी गई थी; पर उसमें किसी भी रूप में भारत की तत्कालीन सही स्थिति को प्रतिबिम्बित नहीं किया गया था । दूसरे शब्दों में, **अन्तर्-राष्ट्रीयता के सामने राष्ट्रीयता को भुला दिया गया** । परिणाम यह हुआ कि उसमें राष्ट्रीय संघर्ष की छाप स्पष्ट नहीं हो पाई ।

प्रगतिवाद का मूल ध्येय प्रगति होनी चाहिए, न कि साम्यवाद या समाजवाद जैसे किसी वाद की पुष्टि । प्रगतिवादियों ने प्रगति का अर्थ केवल उन्हीं परिभाषाओं के रूप में लिया, जिन्हें सार्वत्रिक मान्यता मिल चुकी थी । भारत की परिस्थितियों की उपेक्षा करके, वे लोग इस प्रकार की किसी अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा को सफलता से नहीं कर सकते थे । हमारे यहां भी शोषित और शोषक का भेद था । पर, **शोषक था विदेशी शासक, और शोषित थी दीन-हीन भारतीय प्रजा** । इस प्रकार इतने बड़े शोषक और इतने बड़े शोषित के संग्राम को भुलाकर एक नये किस्म के अपरि-

चित संग्राम की बात खड़ी करना किसी भी रूप में उचित नहीं था। वे लोग यह भूल गए कि आखिर उस समय का ९९ प्रतिशत भारतीय-समाज कृषक और सामान्य जनता से ही बना था। धनी या पूँजीवादी कहा जाने वाला वर्ग एक प्रतिशत भी नहीं था। सच तो यह है कि उस समय तक राजनीति भी इन धनियों के हाथों की खेल नहीं बनी थी। वे लोग देशी आन्दोलनों को सहायता देते थे, पर यह सोचकर नहीं कि वे राजनीति को खरीद लेंगे। उनकी सहायता तो इसलिए थी कि कहीं जनता उनके विरुद्ध हिंसक न बन उठे।

सच यह है कि भारतीय स्वतंत्रता के बाद से पूंजीवाद का जितना अधिक विकास हुआ है, और उसने जितना भयंकर रूप धारण किया है, इतना भयंकर रूप स्वतंत्रता के पूर्व उसे नहीं मिला था। उस समय का पूंजीवादी जहाँ विदेशी सरकार से डर कर और झुक कर चलता था, और खुले में आकर उसका विरोध नहीं करता था, वहाँ वह देश के स्वतंत्रता आन्दोलन को भी सहायता देना अपना कर्तव्य समझता था। निश्चय ही ऐसी सहायता बहुत कम पूंजीपतियों ने दी। और, जिन्होंने दी, वह भी चोरी-छिपे। पर यह भी सच है कि वे लोग स्वतंत्रता आन्दोलन के विरुद्ध खुले में आने का साहस नहीं कर सके। राजाओं और रजवाड़ों ने खुलकर ग़द्दारी की। पर, उनका इलाज भी स्वतंत्रता की प्राप्ति से ही संभव था। वास्तव में तो हर पूंजीवादी का इलाज स्वतंत्रता में ही आ जाता था। क्योंकि, जब तक हमें स्वतन्त्रता ही प्राप्त न हो जाय, तब तक जनता के किसी भी वर्ग के विरुद्ध युद्ध निरर्थक हो जाता था।

परन्तु, प्रगतिवादियों की सबसे बड़ी कमजोरी यही रही कि उन्होंने **लाल झण्डे**, **लाल सितारे**, और **साम्यवाद** के नारे तो बुलन्द किए, पर वे यह भूल गए कि इन सबको पाने का एकमात्र उपाय था **स्वतन्त्रता** को पाना? इसीलिए वे लोग स्वतंत्रता-प्राप्ति के संघर्ष में किसी प्रकार का भी योगदान सीधे रूप में न दे सके। उनके गीतों में स्वतन्त्रता की बात उतनी नहीं कही गई, जितनी कि पूंजीवादियों के विरुद्ध क्रांति की।

'दिनकर' यहीं पर इन कवियों से भिन्न हो जाते हैं। उनके काव्य में गरीबों का स्वर आया है, पर सबसे मुख्य बात उनके स्वर की यह रही है कि उन्होंने अपनी आवाज़ विदेशी शासकों के विरुद्ध भी उठाई है। उनकी स्वतन्त्रता की तड़प से भरी हुई यह आवाज़ इतनी तेज़ी से उठी कि उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा नहीं जा सकता। उस युग में राष्ट्रवादी कवियों का भी एक दल था। 'दिनकर' की आवाज़ उनकी आवाज़ से किसी भी प्रकार कमज़ोर नहीं थी। पर इस पर भी उसमें एक विशेषता यह रही कि राष्ट्रवादी कवि जन-सामान्य के शोषण पर उतना विस्तृत ध्यान नहीं दे सके, जितना कि 'दिनकर' ने दिया है। यह बात 'निराला' के काव्य में भी पाई जाती है। 'परिमल' में उनकी रचनाएं शोषितों के प्रति प्रेम की भावना से भरी हुई हैं। परन्तु, वे उस पथ को अपना लक्ष्य मानकर नहीं बढ़े। 'दिनकर' के लिए वह पथ लक्ष्य बन गया। अन्य राष्ट्रवादी कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी और 'नवीन' भी विद्रोही रहे हैं, और उनमें भी क्रांति की पुकार प्रेरणा भरती रही है। पर, वे लोग जन सामान्य और शोषितों के प्रति उतने अधिक नहीं खिंचे। सोहनलाल 'द्विवेदी' की रचनाओं में ग्रामीण जनता का चित्रण भी आया हैं। गांधी जी के दरिद्रनारायण की कल्पना को लेकर उन्होंने काफ़ी वढ़ाया है। पर वे भी उतने प्रबल स्वर नहीं खोज पाए, और उनके काव्य का विस्तार भी पर्याप्त कम है।

पर 'दिनकर' के लिए तो यह जीवन की साधना ही बन गई है। उसके काव्य के प्रथम स्वर की गुंजार से लेकर आज तक एक **आग** जलती आ रही है। इसे ही हम उसके 'जीवन-दर्शन' की विवेचना में **अनल** कहेंगे। यह **अनल** अपने दो रूप रखती है—**प्रकाशमय और ज्वालामय**! इन दोनों ही रूपों का निर्वाह कवि ने भलीभांति किया है। इसलिए उसके काव्य को न तो केवल **विद्रोह का काव्य** कहा जा सकता है, और न ही उसे केवल **आदर्श का काव्य** कहा जा सकता है। **विद्रोह और अनुसरण दोनों ही उसके काव्य की विशेषताएं हैं**। यह विद्रोह भी

उभयविध है—विदेशी शासकों के प्रति भी, और अपनी सामाजिक प्रथा एवं पूँजीवाद के प्रति भी। प्रथम दृष्टि में पूँजीवाद और समाज के प्रति विद्रोह को एक कर देने की वात अजीव सी लगेगी। पर, अधिक विवेचना में जाने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि हमारे राष्ट्र में दोनों ही बातों के विरुद्ध आवाज़ उठाने की समान और तीव्र आवश्यकता थी। सामान्य तौर पर 'प्रगतिवादी' समझे जाने वाले कवियों ने सामाजिक प्रथाओं के प्रति विद्रोह की आवाज़ उतनी अधिक नहीं उठाई है। इसी कारण उन के काव्य में केवल आर्थिक शोषण की ही वात, अथवा उसके प्रति विद्रोह का ही स्वर, अधिक प्रबल रहा है। यह बात 'दिनकर' से उनके अन्तर को स्पष्ट कर देती है। देश की स्वतन्त्रता के वाद उसे सम्भालने का प्रश्न उठना आवश्यक था। उस समय सामाजिक मर्यादाओं का प्रश्न अवश्य उठना था। गाँधी जी ने इस प्रश्न को पहले ही उठाया था। पर, विद्रोही 'दिनकर', 'नवीन' की अपेक्षा कम उग्र होकर भी, उस स्वर को पूरी तेज़ी के साथ उठाता है। उसमें इन स्वरों की स्थिरता औरों की अपेक्षा काफ़ी अधिक रही हैं। आज, युग पलट जाने पर भी, उसकी यह स्थिरता बरावर बनी हुई है। यही उसका वैशिष्ट्य है।

दार्शनिक पहुँच—'दिनकर' की प्रगतिवादी दार्शनिक पहुंच और पृष्ठ-भूमि को समझने में **'कुरुक्षेत्र'** का महत्वपूर्ण स्थान है। इस विषय में अधिकांश आलोचकों का यह कथन है कि वह 'कुरुक्षेत्र' में शुद्ध समाज-वाद का पोषक बन कर सामने आया है। अब सच यह है, जैसा कि हमने इसी पुस्तक के 'कुरुक्षेत्र-विवेचन' में स्पष्ट किया है, कि सप्तम सर्ग के केवल कुछ ही पदों में 'समाजवाद' की सैद्धान्तिक व्याख्या आई है। इन्हें छोड़ कर और कहीं भी, इस सारे काव्य में ही, 'समाजवाद' की बात को बल नहीं मिला। सारे काव्य में जो बात मुख्य है, वह है प्रजा पर अन्याय न करने वाले राज-धर्म या राजनीति की सही व्याख्या। इसको देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि कवि का उद्देश्य इस काव्य में 'समाजवाद' का प्रचार करना रहा है। सप्तम सर्ग में भी, समाजवाद की चर्चा

अधिक न आकर, राजनीति की ही चर्चा अधिक आई है। समाजवाद की चर्चा को, केवल कुछ पद्यों में सीमित होने के कारण, सारे काव्य की प्रतिनिधि स्वीकार नहीं किया जा सकता। फिर, सबसे बड़ी बात तो यह है कि कवि ने जिस समाजवाद की चर्चा की है, वह अन्तर्राष्ट्रीय रूप में मान्य 'समाजवाद' से पर्याप्त अन्तर रखता है।

कवि के अन्य काव्यों में समाजवाद की यह पुकार इस रूप में नहीं मिलती। उसके आधुनिक काव्य **'परशुराम की प्रतीक्षा'** में ही केवल **समानता** को फैलाने की बात दिखाई देती है। पर, वह इस कारण नहीं कि शोषक और शोषित का कोई भेद सामने है। बल्कि, इसलिए कि सारे समाज में झगड़ा ही इस बात पर है कि धन का बंटवारा समान रूप में नहीं हुआ है, और अवसरों की समानता भी सब को नहीं मिल पाती। यह बात इस रूप में सामने आने पर भी वहां समाजवाद की पोषक नहीं बनी है। यहां हमारा अभिप्राय 'सैद्धान्तिक समाजवाद' से है। वहाँ जिस राष्ट्रीय संकट की प्रतिक्रिया व्यक्त हुई है, उसने हमारे सामने यह बात पूरी तरह खोल दी है कि जब तक राष्ट्र में असमानता विद्यमान है, तब तक पूंजीपतियों से किसी प्रकार के त्याग या बलिदान की आशा करना बिलकुल व्यर्थ है। पूंजीपति लोग राष्ट्रीय संकट के समय सुवर्ण और धन का दान देने में कितने पीछे रहे हैं, यह बात हर कोई समझता है। कवि इसी बात को समझ कर कहता है कि उन्हें तो मतलब अपनी पूंजी बनाने से है। वे तो संकटकाल में भी अपनी पूंजी की ही बात सोचते हैं। इसलिए उनकी निगाह में अगर कोई महत्व है, तो केवल मुनाफ़ाखोरी का! यह बात समझने के बाद ही वह उनके विरुद्ध आह्वान के लिए आवाज़ उठाता है। पर, इस सबके बाद भी उसका यह काव्य समाजवाद का पोषक न होकर राष्ट्रीयता और देश की एकता का ही प्रतिनिधि और पोषक बन कर रह गया है। स्वयं कवि ही 'परशुराम' है। 'उर्वशी' में अगर वह कुछ सो भी गया था, तो इस नये काव्य में वह फिर से जाग पड़ा है। इस पर भी यह काव्य उसे 'प्रगतिवादी' कवि सिद्ध नहीं करता।

इससे भी बढ़कर यह बात ध्यान देने योग्य है कि 'दिनकर' ने 'कुरुक्षेत्र' की रचना सन् १९४५-४६ के बीच की। अभी द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त होकर ही चुका था। चारों ओर विनाश के बादल पूरी तेज़ी के साथ अपना भयंकर रूप धारण करके मँडरा रहे थे। समाजवाद या साम्यवाद एकमात्र पोषक देश रूस भी युद्ध के पंजे में बुरी तरह जकड़ा जा चुका था, और उसे काफ़ी अधिक हानि उठानी पड़ी थी। इसी समय भारत की स्वतन्त्रता की बातचीत भी चल रही थी। भारत की आज़ादी की प्रतीक्षा बहुत उत्सुकता से की जा रही थी। संयुक्त-राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद यह प्रायः निश्चित सा ही हो गया था, कि विश्व के अन्य परतन्त्र राष्ट्र भी स्वतन्त्रता के लिए उत्सुक बन सकेंगे। भारत की आवाज़ उस महान् सभा में भी गूंजी, और विश्व ने बहुत सम्मान के साथ उस आवाज़ को सुना। ऐसे समय कवि देश की दशा के प्रति सजग हो गया, और उसने देश के भविष्य का एक ख़ाका अपनी आंखों में खींचा। उसका यह स्वप्न और आलोचन ही इस काव्य में व्यक्त हुआ है।

अगर यह मान भी लिया जाए कि 'कुरुक्षेत्र' समाजवाद के लक्ष्य को स्वीकार करके चलने वाला काव्य है, तब भी इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि 'दिनकर' ने समय के स्वर की उपेक्षा की है। 'दिनकर' अपने युग को देखकर ही सदा बढ़े हैं। यही कारण है कि जब चारों और स्वतन्त्रता की प्रतीक्षा होने लगी, उसी समय उसने समयानुकूल आवश्यकता के लिए उचित इलाज प्रस्तुत कर दिया। इससे तो यह बात और भी अधिक पुष्ट हो जाती है कि 'दिनकर' सदा ही समय और युग से अधिक प्रभावित रहे हैं। उन्होंने, किसी वाद विशेष की व्याख्या के लिए कोई काव्य न लिखकर, समय की पुकार के अनुसार अपनी प्रतिक्रिया सदा दी है। इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' समाजवाद का काव्य ठहर कर भी, उन्हें प्रगतिवादी कवियों के सामान्य दल का अंग नहीं बनने देता। वे उनसे बिलकुल भिन्न सिद्ध होते हैं।

मुख्य लक्षण—प्रगतिवादी काव्य का सम्बन्ध प्रायः समाजवाद से माना गया है। सैद्धान्तिक समाजवाद मार्क्स और लेनिन की वताई राह पर चलकर, कुछ निश्चित सिद्धान्तों को स्वीकार करके, वढ़ता है। वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता, वर्गहीन समाज की स्थापना, पूंजीवादियों और पूंजीवाद का उन्मूलन, तथा सशस्त्र क्रांति की आवश्यकता, आदि समाजवाद की अनिवार्य और आवश्यक शर्तें मानी गई हैं। यह बात अन्तर्राष्ट्रीय रूप में स्वीकार की जा चुकी है। पर, हर देश की संस्कृति का अपना मूल भी उसकी राजनैतिक मान्यताओं का स्वरूप निश्चित करने वाला होता है। भारतीय संस्कृति पश्चिम की संस्कृति से इस विषय में बिल्कुल भिन्न है। जहां पश्चिमी संस्कृति हिंसा को सामाजिक मामलों में न्याय पाने का माध्यम स्वीकार करती है, वहां भारतीय संस्कृति समाज के अनेक वर्गों को स्वीकार करके सामाजिक प्रेम की अनिवार्यता को मानती है। सत्य, अहिंसा और प्रेम का नारा गांधी जी ने ही नहीं उठाया, और न ही उसे केवल बुद्ध, अशोक और हर्ष आदि का ही आशीर्वाद मिला, वल्कि वह तो भारतीय संस्कृति के मन-प्राण में समा चुका है; और उसे जब भी जिसने भी उठाया, उसने भारतीय संस्कृति की प्रेरणा को पाकर ही ऐसा किया। इसलिए भारतीय वर्ण-व्यवस्था के मूल में इन सिद्धान्तों को विना समझे, युगों पुरानी संस्कृति को मिटाकर एक दम एक नया नुसखा देने की भावना एक व्यर्थ का उत्साहमात्र ही गिनी जा सकती है। यह बात 'दिनकर' ने भलीभाँति समझ ली थी। वह स्वयं भारतीय संस्कृति में रंगे हुए हैं। उनकी वचपन की शिक्षा-दीक्षा भारतीय संस्कृति के वातावरण में ही नहीं हुई, वल्कि उनकी पारिवारिक और सामाजिक स्थितियों ने भी उन्हें संस्कृति का एक महान् उपासक बना दिया है।

संस्कृति के चार अध्याय—यह वहुत बाद की रचना है। परन्तु, इससे यह अवश्य सिद्ध हो जाता है कि अपने जीवन भर 'दिनकर' भारतीय संस्कृति के विषय में बहुत कुछ अध्ययन और मनन करते आए हैं।

स्पष्ट है कि समाजवाद को भी उन्होंने इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ग्रहण किया है। जयप्रकाश नारायण की स्तुति में कविता लिखने वाला विद्रोही कवि इस बात को भली प्रकार जानता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता से पहले राष्ट्रीयता की भावना का विकास अधिक आवश्यक है। दिनकर गांधीजी से राजनैतिक रूप में भले ही प्रभावित न रहे हों, परन्तु गांधीवाद के चारित्रिक आदर्शों को उन्होंने पूरी मान्यता दी है। वह अहिंसा के विरोधी हैं, परन्तु इसलिए नहीं कि देश में ही खून-ख़राबी की जाय। वह पूँजीवाद के भी विरोधी हैं, और समता पर आधारित समाज की स्थापना भी करना चाहते हैं। पर, इस सबके लिए वह किसी ख़ूनी क्रांति की पुकार नहीं मचाते। जब तक जनता ही जागकर अपने राजनैतिक अधिकारों को न पहचान ले, और जब तक सामाजिक समानता की भावना को हम अपनी संस्कृति का अंग ही न बना लें, तब तक यह समाजवाद हिंसा के बल पर स्थापित करके भी स्थायी न बनाया जा सकेगा।

वाद और शैली—कवि द्वारा प्रयुक्त **अनल** शब्द इस बात की पूरी व्याख्या कर देता है। यह **अनल** ज्वाला और उज्वलता का साथ-साथ प्रतीक है। इसमें **दाह** भी है और **प्रकाश** भी। **प्रकाश** चरित्र के आदर्शों और महत्व को सूचित करता है। **दाह** हिंसा का प्रतीक माना जा सकता है। इस प्रकार जिस सामाजिक समता या समाजवाद की बात कवि करता है, उसमें वह पश्चिम के सभी सिद्धान्तों का अन्धानुकरण नहीं करता। बल्कि,वह उन्हें राष्ट्रीय आदर्शों और संस्कृति के आधार पर परिष्कृत करके बढ़ना चाहता है। वह किसी वाद का अंधानुकरण नहीं करता, बल्कि एक ऐसे पथ का निर्माण करता है, जो युग के अनुकूल आंखें खुली रखकर बढ़ने के परिणाम रूप में उसे प्राप्त हुआ है।

सामान्य कवि और युग-विद्रोही कवि में यही अन्तर है कि **सामान्य कवि** अपने समय की धारा में अंधा होकर बह पड़ता है, जब कि **युग-विद्रोही कवि**, नये और पुराने के भेद को मिटाकर, एक नए पथ के

निर्माण में जुट जाता है। सामान्य प्रगतिवादी कवि जनता की समीपता के नाम पर कविता की भाषा को ऐसी बनाने पर तुल गये थे, जिसे सामान्यतः **बाजारू** बोली या **जन-भाषा** कहा जाता है। इसका परिणाम यह हुआ कि गम्भीर विचार अपने उपयुक्त शब्दावली को न पा सके। **'पन्त'** जैसे कवि ने यदि विचार व्यक्त करने चाहे, तो उसे संस्कृत-बहुला भाषा का प्रयोग करना पड़ा। प्रगतिवाद में ऐसी कविता को अच्छा नहीं समझा गया। यह कविता जनभावना से दूर की, और केवल साहित्यकों के उपयोग की ही, समझी गई। 'दिनकर' की कविता में यह विशेषता सर्वत्र रही है कि उसने भाषा का प्रयोग विषयानुकूल ही किया है। वह कहीं भी अंधानुकरण की भावना से प्रेरित नहीं रहा है। उस भाषा का आविष्कार अपने ढंग से किया है। दार्शनिक और उत्तेजनात्मक दोनों ही स्थलों पर वह अपने ही ढंग से बढ़ा। उसकी भाषा में **अलंकार** भी रहे हैं, और यथार्थ के नाम पर उनका दुरुपयोग नहीं किया गया। कवि के उपमान परम्परागत भी हैं और नये भी। कहीं भी वह आग्रह में जकड़ा हुआ नहीं दिखाई देता। यही बात शब्द-शक्तियों के प्रयोग के विषय में है। **लक्षणा** और **व्यंजना** का प्रयोग उसने खुल कर किया है, पर कहीं भी वह चमत्कार की भावना में फँस कर नहीं उलझा है। वह अपनी बात को अधिक से अधिक तीखा बनाना चाहता है, पर उसका कवि रूप एक दम सो नहीं जाता। यह बात उसके काव्य की भूमिका को अधिक स्पष्ट कर देती है।

परिणामतः—इस प्रकार हम देखते हैं कि दिनकर परम्परागत ढंग के या साम्प्रदायिक ढंग के प्रगतिवादी कवि नहीं हैं। उनका कवित्व किसी भी आग्रह से मुक्त होकर बढ़ा है। पर, यदि **प्रगतिवाद** का अर्थ प्रगतिशीलता से है, और **प्रगतिवादी कवि** का अर्थ युग विद्रोही कवि से है, तो 'दिनकर' सबसे बड़े प्रगतिवादी कवि हैं। उन्होंने तथाकथित प्रगतिवाद की सीमित मान्यताओं तक को तोड़ गिराया है। उसमें उन्होंने 'नई-धारा' को जन्म दिया है। किसी भी पूर्वाग्रह से मुक्त होकर ही वे अपने

काव्य की सरणि पर बढ़े हैं। एक स्थान पर वे स्वयं लिखते हैं, "मैं पंत के वक्तव्य को गुप्त जी की भाषा में उतारना चाहता था।" कदाचित् उनके **छायावादोत्तर काल** नाम के निबन्ध में कहे गए ये शब्द उनके काव्य-चरित्र पर सबसे अच्छी टिप्पणी हैं। उनके प्रगतिवाद में भी कुछ इसी प्रकार का मिश्रण है। परन्तु, एक बात स्पष्ट है कि *अपने युग और परिस्थितियों को देखते हुए वह, अपने समय के किसी भी प्रगतिवादी कवि की अपेक्षा, अधिक बड़े प्रगतिवादी गिने जा सकते हैं।*

——

७

सांस्कृतिक दृष्टि

ग्रन्थ महत्त्व—दिनकर ने अपने जीवन की ऐतिहासिक सम्पत्ति को 'संस्कृति के चार अध्याय' में सीमित किया है। हम यह बात बार-बार दोहरा आए हैं कि दिनकर की यह महान् रचना उसके सारे जीवन-दर्शन का निचोड़ है। उसने जीवन भर जो भी विचार किए और जो कुछ भी चारों ओर देखा, उस सबकी प्रतिक्रिया और प्रभाव उसके मन में जमा होते गए। उन सबका निचोड़ इस महान् ग्रन्थ में एकत्र होकर आया है। दिनकर यहां एक विचारक के रूप में ही सामने नहीं आए हैं, बल्कि एक युग नेता की भांति उन्होंने बहुत तेज छैनी लेकर काँट-छाँट की है। सच तो यह है कि इस ग्रंथ के अतिरिक्त भी कवि ने सभी जगह ऐसी ही छैनी का प्रयोग किया है। 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' इस विषय में अधिक उग्र हैं। सामाजिक समस्याओं की दृष्टि से 'रश्मिरथी' का स्थान भी पीछे नहीं है। इस प्रकार कवि की सम्पूर्ण काव्ययात्रा ही राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय संस्कृति के अध्ययन का निचोड़ है।

स्वातंत्र्य-चेतना—यहाँ हमें यह स्मरण दिलाना है कि कवि को आरम्भ से ही जिस चेतना ने अधिक घेरा है उसे हम एक शब्द में 'स्वा-तंत्र्य-चेतना' कह सकते हैं। इस चेतना का सम्बन्ध किसी विदेशी शासन या किसी विशेष बंधन के प्रति स्वतंत्रता की भावना से नहीं है, बल्कि इस-का संबंध कवि की उस स्वाभाविक विद्रोहमयी चेतना से है, जिसके कारण वह किसी भी परम्परा का अनुगामी बनने को तैयार नहीं है। यूं तो प्रत्येक कवि जन्म से विद्रोही होता है। आज का प्रयोगवादी कवि तो

स्वयं को सबसे बड़ा विद्रोही कवि मानता है। परन्तु, विद्रोह भी आखिर किसी प्रयोजन से हो, तभी ठीक होता है। जिस विद्रोह का लक्ष्य ही 'विद्रोह' रह जाए, वह विद्रोह प्रयोजनहीन ही कहा जा सकता है।

लक्ष्य—दिनकर कभी भी किसी ऐसे विद्रोह की भावना से परिचालित नहीं रहे हैं, जिसका कोई लक्ष्य न हो। उनका विद्रोह और विरोध सदा ही रचनात्मक अधिक रहा है। इसीलिए उन्होंने आरम्भ से ही जिन परिस्थितियों का सामना किया और जिन विचारधाराओं का विरोध किया, उनमें उनके जीवन की आस्था और विश्वास छिपा हुआ रहा है। परिणाम यह कि देश या व्यक्ति की परतंत्रता का विरोध उन्होंने राजनैतिक, सामाजिक, या आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं किया, बल्कि उन्होंने विचार के क्षेत्र में भी मनुष्य की दासता का विरोध किया। सच तो यह है कि सांस्कृतिक दासता अन्य दासताओं से अधिक बड़ी है। यह बात दिनकर को दिन की भांति साफ़ दिखाई दी कि भारत के हर प्रकार के पतन का एकमात्र कारण हमारे सांस्कृतिक पतन अथवा हमारी जड़ता में था। सांस्कृतिक जड़ता किसी भी मनुष्य या राष्ट्र की सबसे बड़ी कमज़ोरी होती है। उसके कारण सारी जाति गिर जाती है। कवि ने लोकमान्य तिलक के 'कर्मयोग रहस्य' को अपनी युवावस्था से पहले ही पढ़ लिया था। वह इस निष्कर्ष पर पहुंच चुका था कि गीता का उपदेश भारत के ऐसे ही सांस्कृतिक पतन के अवसर पर दिया गया था। 'गीता' में भगवान् कृष्ण ने संन्यास मार्ग का खुल कर विरोध किया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी हमारे यहां जीवन के सत्यों से उदासीन रहकर चलने की आदत उत्पन्न हो गई थी। कृष्ण इस प्रकार की हर दासता से छूटने का खुला आह्वान करते हैं। लोकमान्य ने भी यही दोहराया। कवि को प्रेरणा यहीं से मिली है। उसने भी राष्ट्र से उदासीनता और उपेक्षा की इस आदत को मिटाने का संकल्प कर लिया। इसके लिए इतिहास का अध्ययन और अनुशीलन आवश्यक हो गया। कवि ने इस अनुशीलन को पूरी गहराई से किया। उसके परिणाम सुनिश्चित हैं।

सबसे बड़ा दोष—कवि जिन परिणामों पर पहुंचा है, उनमें सबसे पहला यह है कि हमारी शान्तिवादी नीति अथवा जीवन की उलझनों से बचने की नीति ने राष्ट्रीय और व्यक्तिगत जीवन में सबसे अधिक दोष उत्पन्न किया है। वास्तव में हम लोगों ने जीवन के संघर्ष में उलझने से बचने का प्रयास करके जीवन का एक बड़ा उपहास किया है। इसका परिणाम यह है कि शत्रु हमें और हमारे राष्ट्र को कमजोर समझता आया है। हम तो अपने आवश्यक कर्मों के उत्तरदायित्व से भी बचने का प्रयास करते रहे हैं। इस वृत्ति ने हमारे जातीय जीवन को बहुत अधिक हानि पहुंचाई है। कवि के चिन्तन का दूसरा निष्कर्ष यह दिखाई देता है कि हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सदा ग़लत अर्थ करते आए हैं। हमने दूसरों को तो अपना बनाने में कोई कसर न की, परन्तु अपनों को गैर बनाने में भी हम पीछे न रहे। इस बात ने भी हमारे राष्ट्रीय जीवन को बहुत ज़बरदस्त हानि पहुँचाई। अपने शत्रु के प्रति भी उदारता बरतना और उसे अपना समझ लेना एक बात है, परन्तु अपने कर्तव्य के प्रति स्वयं सावधान न रहना और इतिहास के पाठों को आंख मूँदकर भुला देना दूसरी बात है। उसे किसी भी दशा में उचित नहीं ठहराया जा सकता। इस बात का महत्व पूरी तरह हमने कभी न जाना। परिणामतः जितने भी विदेशी आक्रान्ता आए, उन्हें 'अतिथि' या इसी प्रकार का कोई दूसरा नाम देकर हमने अधिक-से-अधिक विश्वासपात्र समझ लिया। परन्तु, इसके साथ ही हम **विदेशी** और **स्वदेशी** में वह अन्तर न कर पाए, जिसके बिना **स्वाधीनता** और **पराधीनता** का भेद मिट जाता है।

सामाजिक दायित्व—कवि ने अनुदार होकर समाज की भी वर्तमान दशा की विवेचना की है। हम ऊंच-नीच और दूसरे भेदों के चक्कर में पड़े रहते हैं। और सच यह है कि इनके द्वारा हम अपने उन जघन्य पापों को छिपाने का प्रयत्न करते हैं, जिनके द्वारा हम समाज के अनेक वर्गों को, आर्थिक और सामाजिक रूप में कुचल कर, जीवन के पूरे फल प्राप्त

करने से वंचित रखते हैं। परिणाम यह होता है कि वे लोग जीवन के फलों को बिना पाए अज्ञानजन्य अभावों को 'भाग्य' का नाम दे बैठते हैं। भाग्यवाद की इस धारणा ने हमारी जाति का सबसे अधिक अधः-पतन किया है। इस **भाग्यवाद** के द्वारा ही हम सामाजिक अन्याय को भी सींचते आए हैं। वास्तव में दुनिया भर में ही धर्म-प्रेमी कहे जाने वाले लोग मनुष्य के मनुष्य पर होने वाले अन्याय को छिपाने के लिए इसी प्रकार के '**भाग्यवाद**' की बात करते आए हैं। राष्ट्रों के भाग्य भी इसी हीन भावना के कारण सदियों तक पतन के गहरे गर्त्त में गिर रहे हैं। भारत को तो इसका बहुत भयंकर परिणाम सहना पड़ा है। बड़े-से-बड़े नेता भी इसी की दुहाई देकर स्वयं को अपने कर्तव्य से मुक्ति देते रहे हैं।

विरोध—इस के विरुद्ध पिछले पाँच हजार वर्षों में चार व्यक्तियों ने आवाज़ उठाई है। ये चार हैं—भगवान श्री कृष्ण, स्वामी दयानन्द, विवेकानंद और तिलक। महात्मा गाँधी ने बीच का पथ निकालना चाहा, यद्यपि वे भी स्वतः कर्मयोग के बड़े भारी समर्थक थे। **कर्म में अधिकार** और **फल के प्रति लगाव न रखना**—ये दो उपदेश गीता के सार रूप में कहे जा सकते हैं। इन्हें भूलकर ही हमारी जाति पतन के गहरे गर्त्त में जा फंसी थी। कवि जानता है कि इस युक्ति-जाल को लेकर ही पूंजीवादी लोग धर्म नेताओं की मुट्ठी गर्म करके अमीर और ग़रीब के भेद को, उनके अवसरों और समानता के साधनों आदि के अन्तर को, बराबर बनाये रखने की कोशिश करते रहे हैं। **'राजा प्रजा का शासक है शोषक नहीं'**—इस बात को हम कतई भूल चुके हैं। आज के संसार के अधिकतर शासकों ने शोषण के प्रति जनता के अज्ञान के बल पर अपने देशों में समाजवाद के प्रसार को रोका हुआ है। वास्तव में समाजवाद की धारणा के जन्म का मूल कारण ही यह है कि अधिकतर शोषित और कुचले हुए लोग अपने जीवन और अपने बल के प्रति स्वयं सचेत नहीं हैं। वे नहीं जानते कि उन के इकट्ठा होते ही समाज के सारे अन्याय

समाप्त हो सकते हैं। राजा या शासक का उत्तरदायित्व भी यही हो जाता है कि वह प्रजा पर इस प्रकार के अन्याय को समाप्त करने के लिए श्रम करे। कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में इस बात को अत्यधिक स्पष्ट किया है कि जब मनुष्य मनुष्य पर विश्वास नहीं करता, और जब वह भाग्य अथवा धर्म के नाम पर मानव-मानव के बीच एक खाई चौड़ी करने का प्रयास करता है, तब राज्य का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उस अन्याय को को समाप्त करे। यहाँ कवि समाजवादियों की भाँति इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि यदि राजा या शासन अपने कर्त्तव्य के प्रति सचेत नहीं रहता, तो इस प्रकार का दायित्व प्रजा के शोषित वर्गों को अपने हाथों में लेना पड़ता है। सच्चा प्रजातन्त्र, साम्यवाद, एवं 'मनुस्मृति' इस विषय में एक मत हैं। गांधी जी ने 'ट्रस्टीशिप' अथवा 'संरक्षकता' के जिस सिद्धांत को धर्म अथवा परमात्मा की देन के नाम पर आधारित करना चाहा, कवि, उसकी विवेचना में, उसे भी बलहीन पाता है। 'संरक्षकता' की ज़रूरत किसे है और क्यों ? आखिर कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में संरक्षण देकर हम अन्याय को क्यों बढ़ने दें ? आवश्यक तो यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को उसके अधिकार से अवगत कराया जाये, और हर व्यक्ति अपने उस अधिकार को पाने के लिए लालायित हो उठे। मनुष्य का यह जागरण ही हमारी समाज व्यवस्था का आधार होना चाहिए। इस बात को भी कवि ने 'कुरुक्षेत्र' में स्पष्ट किया है।

त्याग और भोग—व्यक्तिगत जीवन में,हम, इन के समन्वय के विषय में भारतीय संस्कृति की प्रशंसा अनेक बार सुनते हैं। पर, हमने अपने धर्म के सिद्धांतों मे कुछ ऐसी कल्पनाएं कर ली हैं—और हमने ही नहीं दुनिया के सभी बड़े धर्मों ने स्वर्ग आदि का लोभ दिखाकर ऐसी कल्पनाएं की हैं—जिनके द्वारा व्यक्ति अपने वास्तविक जीवन से उदासीन होकर एक अवास्तविक जीवन को पाने के लिए उत्कंठित और लालायित हो उठता है। इस प्रकार के अवास्तविक जीवन के प्रति आकर्षण हमें अपने जीवन की गहरी समस्याओं में पैठने नहीं देता। मानव को जीवन

मिला है। पर, हम उसमें न उलझें और उसकी गहराइयों में न उतरें, तो यह जीवन का उपहास है। कर्म-मार्ग का सच्चा पथिक अपने जीवन से संघर्ष करने में ही पूर्णता मानता है। संघर्ष में दुख आते हैं। और, दुखों के अन्त की खोज में चलने वाला मनुष्य अन्त में शान्ति के किसी एक आश्रय को खोजना चाहता है। इस शान्ति के आश्रय के रूप में वह एक ऐसे लोक की कल्पना कर बैठता है, जहाँ संघर्ष और कठिनाइयाँ बिलकुल न हों। उसे नहीं पता कि जिस जीवन में संघर्ष नहीं, वह जीवन जीवन नहीं। संघर्षों में ही जीवन की 'अग्नि' या वास्तविकता बसती है। इस 'अग्नि' को ही कवि जीवन मानता है। पर आश्चर्य यही है कि भारतीय संस्कृति की भाँति अन्य संस्कृतियों ने भी जीवन की इस अग्नि को संताप, दुख और जंजाल आदि का नाम देकर, इससे बचने की प्रेरणा ही अधिक दी है। यह बात जीवन का स्वयं बहुत बड़ा उपहास है। **जीवन अधिक से अधिक भोगने के लिए है, भागने के लिए नहीं। भोगने** और **भागने** का यह झगड़ा उन लोगों का खड़ा किया हुआ है, जो स्वयं अधिक गहराई और अधिक श्रम में उतरना नहीं चाहते। संघर्षों से बचने को वे आराम और **मुक्ति** मानते हैं। 'गीता' में श्रीकृष्ण ने इस प्रकार की मुक्ति को तिरस्कृत किया है। वे जीवन के अधिक से अधिक मुकाबले और संघर्ष को ही श्रेयस्कर समझते हैं। कवि ने भी **'उर्वशी'** में इसी बात को अधिक स्पष्ट किया है। निष्क्रिय जीवन की प्रतिनिधि उर्वशी, उस जीवन से भागकर, अपने खून की गर्मी और संघर्ष की ताज़गी को अनुभव करना चाहती है। परन्तु, पुरूरवा स्वयं जीवन का भोगी होकर भी उकता कर उससे दूर भागना चाहता है। सचाई यह है कि जीवन से दूर भागकर वह कहीं जा भी तो नहीं सकता। जीवन की आग को वह अभिशाप मान बैठता, है। परन्तु, यही आग उर्वशी को अपनी ओर खींच रही है। आखिर जीवन के सारे संघर्ष जिस आग के बल पर चलते हैं, उससे थक-हार कर बैठ जाने में, अपनी अशक्ति और नपुंसकता दिखाने में, जीवन ही कहाँ रह जाता है ? इन

दो विरोधी विचारों के समन्वय में ही मानव जीवन की पूर्णता है। यह वात 'उर्वशी' में **आयु** और **औशीनरी** के द्वारा अधिक स्पष्ट हुई है। आयु का जन्म पुरूरवा और उर्वशी से हुआ है। और, औशीनरी उर्वशी की आग लेकर भी संयत रहती है—प्रकाशित रहती है। दूसरे शब्दों में, मानव जीवन का अस्तित्व अनल की तीव्रता और उसके प्रकाश—दोनों से ही चलता है। इनके संतुलन के बिना जीवन अधूरा है। पुरूरवा केवल **प्रकाश** की खोज में है, और उर्वशी केवल **ज्वाला** की खोज में। पुरूरवा **दाह** से घबराता है और उर्वशी **प्रकाश** से। सच तो यह है कि जीवन में जिस भी वस्तु को हम अतिमात्रा में अपने चारों ओर पाते हैं, उससे ही घबरा कर दूसरी वस्तु को खोजना शुरू करते हैं। आयु उन दोनों के बीच के पथ का निर्देश करता है। औशीनरी को सच्चा मातृत्व देकर भी कवि समन्वय को अपनाता है।

क्रोध नहीं—'परशुराम की प्रतीक्षा' काव्य की वह कड़ी है, जहां कवि का क्रोध उबल पड़ा है। राष्ट्र की सर्वतः भयंकर दुर्दशा के अवसर पर उसकी चेतना ने जागकर नये जागरण का एक सन्देश दिया है। कुछ विचारकों ने उसे यहाँ पथ-भ्रष्ट होता पाया है। पर, यह है कि यहाँ वह केवल आग उगलने वाला नहीं बना है। उसके व्यंग्य तीखे अवश्य रहे हैं, पर तो भी उनके पीछे उसका सांस्कृतिक चिंतन सजग रहा है। वह आचार और विचार को जीवन के कर्म मार्ग से, और उसकी ठोस वास्तविकताओं से, भिन्न करके देखना नहीं चाहता। उसने राष्ट्र के और व्यक्ति-जीवन के सभी अन्तर विरोधों का कारण खोज निकाला है। और, उसे दूर करने के लिए उसनें हर पद्य में आह्वान किया है। यह बात लगती कुछ असंगत है, परन्तु हम उस पुस्तक की विवेचना में इसे अधिक स्पष्ट करेंगे। इसे केवल 'चीनी-आक्रमण' अथवा स्वयं 'चीन' के प्रति किसी उत्तेजित प्रतिक्रिया के रूप में न लेना चाहिए : उस बहाने कवि सारे राष्ट्रीय जीवन पर दृष्टि डालता है।

सामाजिक अन्याय और विषमता—यह वात **रश्मिरथी** में अधिक

स्पष्ट हुई है। 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' दोनों ही व्यक्ति, समाज, और राजनीति की समस्याओं को लेकर चले हैं। 'कुरुक्षेत्र' का दायरा अधिक व्यापक रहा है, परन्तु रश्मिरथी की समस्या अधिक मानवीय रही है; यद्यपि सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष भी उसमें गौण नहीं रहे हैं।

इन सबका व्यापक अनुशीलन कवि ने अपनी गद्य कृति '**संस्कृति के चार अध्याय**' में किया है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि ने जिन समस्याओं को लिया है, वे देखने में तो देश और काल की सीमाओं में बंधी हुई दिखाई देती हैं, परन्तु वास्तव में वे सारे विश्व पर एक समान लागू होती हैं। विश्व भर की संस्कृति में प्रायः उसी प्रकार के अन्तर्विरोध और छल भरे हुए हैं, जिस प्रकार के भारतीय संस्कृति में पग-पग पर मिलते हैं। मानवता के शोषण और अन्याय की समस्याएं सब जगह एक सी हैं। उनके हेतु भी एक से हैं। इसलिए उनको दूर करने का उपाय भी एक सा होना चाहिए। इन संस्कृतियों में से 'भारतीय संस्कृति' अपने परिणामों को अधिक युक्ति-संगत बनाकर चलने का उपक्रम करती है। इसीलिए उस की विवेचना का अर्थ है विश्व भर की संस्कृतियों के सभी भ्रामक युक्ति जालों का खण्डन।

इस प्रकार कवि का संस्कृति-दर्शन केवल भारतीय संस्कृति की विवेचना ही नहीं है, बल्कि विश्व संस्कृति की विवेचना भी उसे कहा जा सकता है।

कुरुक्षेत्र : एक समीक्षण

'कुरुक्षेत्र' दिनकर की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति है। 'उर्वशी' के प्रकाशन से पूर्व हिन्दी साहित्य का विद्यार्थी प्रायः दिनकर का परिचय इसी कृति के माध्यम से पाता था। उनकी फुटकर कविताओं के अतिरिक्त केवल यह कृति ही उच्चतर कक्षाओं के पाठ्यक्रम में प्रवेश पा सकी थी। इस कृति के 'महाकाव्यत्व' को लेकर पर्याप्त विवाद हुआ ही है, इसमें व्यक्त विचारधाराओं को लेकर भी काफ़ी खींच-तान हुई है। कवि को किसी न किसी 'वाद' से सम्बद्ध सिद्ध करने के उतावलेपन में बहुत से भ्रांत निष्कर्ष भी निकाले गये हैं। इसी प्रकार के निष्कर्षों में से एक के अनुसार 'कुरुक्षेत्र' समाजवाद का पोषक महाकाव्य है।

प्रतिनिधि रचना—दिनकर-साहित्य में 'कुरुक्षेत्र' ही एकमात्र ऐसी कृति है, जिस पर सर्वाधिक आलोचना-साहित्य का सृजन हुआ है। इसे दिनकर के कवित्व और उसके दर्शन की प्रतिनिधि रचना माना जाता है। भीष्म और युधिष्ठिर के संवाद रूप में चलने वाली यह कृति कहीं 'भारत-भारती', कहीं 'साकेत', और कहीं स्वतन्त्र शैली के दर्शन कराती चलती है। 'कामायनी' की शैली का प्रभाव भी इस पर कम नहीं है; विशेषकर पंचम सर्ग के द्वितीय खंड पर! इस सबसे बढ़कर शैली और भाव-तत्व की दृष्टि से 'कुरुक्षेत्र' में अर्वाचीन और प्राचीन का अद्भुत समन्वय हुआ है। कवि किसी 'वाद' या नये मार्ग को निकालने में प्रवृत्त नहीं रहा है। बल्कि देश-दशा और भविष्य के प्रति उन्मुक्त दृष्टि को लेकर जो कुछ वह देख-सोच सका है, वह सब उसने 'कुरुक्षेत्र' में बन्द कर दिया है। देश की स्वतन्त्रता से एक वर्ष से अधिक पहले प्रकाशित

होने वाली यह रचना कथानक और वस्तु की दृष्टि से इतनी अधिक उपयुक्त सावसर और यथार्थ सिद्ध होगी, इसकी कल्पना किसी ने भी न की होगी। इसकी रचना सन् १९४५ में ही हो चुकी थी। इसके प्रकाशन के एक मास के भीतर ही देश को उन सब समस्याओं का सामना करना पड़ गया, और उनके हल को पाने के लिए व्यथित होना पड़ा, जिनको कवि ने इसमें उठाया था। कदाचित् इसका उपयुक्ततम अवसर तो आया इसके भी एक वर्ष बाद—भारत-पाकिस्तान के बंटवारे के बाद। विनाश के बाद ही नवनिर्माण का प्रश्न मुख्य होता है। युधिष्ठिर और गांधी की परिस्थितियों में अन्तर हो सकता है। गांधी युधिष्ठिर से अधिक दृढ़ निश्चयी भी गिने जा सकते हैं। पर भीष्म के रूप में कवि का सन्देश, युधिष्ठिर से भी अधिक, नये भारत के नेता नेहरू के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

इसका अर्थ यह नहीं कि इस काव्य का ऐतिहासिक महत्व कम हो जाता है, या युधिष्ठिर के लिए भीष्म का उपदेश युगानुकूल नहीं रहता। सत्य यह है कि भीष्म का उपदेश इतिहास की एक शाश्वत अपि च अनिवार्य आवश्यकता है। वह किसी भी युग पर पूरी तरह लागू होती है। उसका मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विश्लेषण तो रचना-युग के अतिरिक्त और किसी के लिए अधिक उचित बैठता ही नहीं।

रचना और विषय-विभाजन—कवि ने आरम्भिक 'निवेदन' में यह स्पष्ट किया है कि यह रचना भगवान् व्यास के 'महाभारत' के अनुकरण पर नहीं हुई है। उसने यह भी स्वीकार किया है कि इसमें कथातत्व न के बराबर है। उसने स्वीकार किया है कि इस सारी वस्तु को युधिष्ठिर और भीष्म के माध्यम के विना भी प्रस्तुत किया जा सकता था, पर तब इसे प्रबन्धकाव्य में न मानकर मुक्तक में रखने का आग्रह बलवान् हो जाता।

इतनी सब बातों से यह निश्चित है कि रचना किसी कथा या अन्य वर्णनात्मक प्रसंग को लेकर नहीं है। इसमें किसी एक विचारधारा की

सम्पुष्टि—उसके पक्ष-विपक्ष का सम्पोषण—मात्र हुआ है। निश्चय ही कवि ने दोनों पक्षों को पूरी तरह उठाया है। पर फिर भी यह भय उसे रहा है कि यदि भीष्म और युधिष्ठिर के नाम इस बीच न होते, तो यह काव्य-प्रबन्ध काव्य न रहता।

जहां तक इसके प्रबन्ध-काव्यत्व का प्रश्न है, हम इस विषय पर बाद में विचार करेंगे। यहां हमें इतना ही कहना है कि यह काव्य सात सर्गों में बाँटा गया है। वे सर्ग किन्हीं निश्चित सीमाओं में बद्ध नहीं हैं। उनमें से कुछ में विषय दोहराया सा प्रतीत होता है। दूसरे शब्दों में इसके विषय को सात से भी कम सर्गों में संगठित किया जा सकता था। परन्तु, इससे यह न समझ लेना चाहिए कि इसकी विषय वस्तु में एकतानता नहीं है। सत्य यह है कि इसकी कथावस्तु अत्यन्त संनद्ध होकर बढ़ी है। विषयवस्तु का एकतासूत्र है काव्य का **जीवन-दर्शन**! जीवन-दर्शन में ही उसके राजनीति-दर्शन का भी समावेश हो गया है। राजनीति, समाज का विषय होकर भी, नेता की अपनी चेतना पर ही निर्भर करता है। इसलिये वह भी वैयक्तिक जीवन-दर्शन से अत्यन्त सम्बद्ध हो उठती है। भीष्म जीवन और राजनीति के इसी एकत्वमूल का उपदेश देते हैं। इस प्रकार इसकी विषय-वस्तु, व्यक्ति से समाज के स्तर पर पहुंचती हुई एक और अविभाज्य है। यहां सर्गवार विभाजन देखना उचित होगा।

प्रथम सर्ग का आरम्भ कवि के एक प्रश्न से होता है। **कामायनी** की भांति यहां भी आरम्भ नायक के भौतिक परिचय से होता है। अन्तर यही है कि कवि वास्तविक समस्या को कहने में, किसी भूमिका की अपेक्षा न कर, सीधा रत हो जाता है। आरम्भिक छन्द मुक्तक के रूप में रहा है। कवि यहाँ इस प्रकार के छन्द प्रयोग में पूर्ण सिद्धहस्त रहा है। कुछ स्थानों पर, और शेष पिछले आधे भाग में, अतुकान्त मात्रिक छन्द का भी प्रयोग हुआ है। इन सभी प्रकार के छन्दों में कवि का विषय-कथन अनवरुद्ध बढ़ा है। आरम्भिक आधे भाग में कवि महाभारत की सम्पूर्ण

घटना पर समीक्षा कर रहा है; मानो वह एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर रहा हो। युद्ध के विनाश का एक भयावह चित्र इसमें प्रस्तुत किया गया है। लगता है कि आरम्भिक पंक्तियां देश की रचना की समकालीन परिस्थितियों को लक्ष्य करके ही लिखी गई हैं। अगले कुछ पदों में तो स्पष्ट ही कवि ने मूल प्रश्न को विश्वव्यापी स्तर पर उठाया है। उसका निम्न कथन इन पंक्तियों को वक्तव्य वस्तु की भूमिका-मात्र सूचित करता है।

यों ही, बहुत पहले कभी कुरु-भूमि में,
नरमेध की लीला हुई जब पूर्ण थी।

इस सर्ग के उत्तरार्ध से युधिष्ठिर की मनु के समान चिन्तामग्न स्थिति दिखाई गई है। युधिष्ठिर अपने मन का एक 'अव्यक्त रव' सुन रहे। यह रव कवि के शब्दों में इस प्रकार हैः—

रक्त से छाने हुए इस राज्य को
वज्र को कैसे सकूंगा भोग मैं?
आदमी के खून में यह है सना,
और है उसमें लहू अभिमन्यु का।

शोक की यह अभिव्यंजना **अशोक की चिन्ता** के समान ही नहीं है, यह तो भारत की सांस्कृतिक परम्परा की एक झांकी है। भारतीय संस्कृति **'वीरभोग्या वसन्धुरा'** के सिद्धान्त को मान कर चली थी। वेद के **'उभे ब्रह्म च क्षत्रं च'** का सिद्धान्त भी इसी बात को सूचित करता है। परन्तु इसके समानान्तर चलने वाली संन्यास और त्यागमार्गी धारणा ने समय-समय पर भारतीय संस्कृति के वास्तविक तत्व को दबा दिया। यहां पर भी युधिष्ठिर उसी भावना से दबा हुआ है। महाभारत के आरम्भ में अर्जुन भी ऐसी ही भावना से परास्त हो गया था। कृष्ण को उसका डट कर विरोध करना पड़ा। महाभारत-युद्ध के पश्चात् एक वैसा ही पश्चात्ताप युधिष्ठिर के मन में आ समाया।

दब गई वह बुद्धि जो अब तक रही
खोजती कुछ तत्व रण के भस्म में।

इस भूमिका के साथ पहला सर्ग समाप्त होता है। इसे हम वक्तव्य वस्तु की प्रस्तावना भी कह सकते हैं।

द्वितीय सर्ग भीष्म के यशोगान से आरम्भ होता है। इसे देखकर साकेत सर्गों के **आरंभिक वन्दन** की याद हो उठती है। इस सर्ग में कवि ने तीन प्रकार के विविध छन्द अपनाये हैं। विभाजन की दृष्टि से छन्दों का विभाजन और रूप में भी किया जा सकता है, क्योंकि बीच के छन्द का विभाजन कवि ने सर्वत्र एक-सा नहीं किया है। कहीं-कहीं कम मात्राओं का छोटा छन्द भी उसके साथ ही प्रयोग हो गया है। आरम्भिक और अन्तिम छन्द इकतीस वर्णों का कवित्त है। इस प्राचीन छन्द का प्रयोग करके भी कवि ने अपना प्रबन्ध-कौशल दिखाया हैं। इतने विस्तृत छन्द में विषय भी उतना ही विस्तृत समाया है। तीसरे छन्द से दसवें छन्द तक युद्धिष्ठर का मनस्ताप भीष्म के सामने व्यक्त हुआ है। कवि ने इसके बाद ही छन्द पलट दिया है। यहां भीष्म का उत्तर निबद्ध हुआ है। इस उत्तर के अन्तिम तीन छन्द छोटे और वार्णिक है। इन तीनों का वक्तव्य-विषय सीमित होकर भी उनकी पृथक्ता का आधार बना है। तीन छोटे छन्दों में तीन सीमित बातें कही गईं हैं। अन्तिम छन्द फिर कवित्त है। इसमें एक पूरे प्रसंग को भीष्म उद्धृत कर रहे हैं। प्रसंग की दीर्घता और प्रश्नोत्तार शैली के कारण यहां दीर्घ छन्द अपनाना आवश्यक हो गया था।

युधिष्ठिर का प्रश्न यहां पहले जैसा ही है भीष्म का उत्तर उसे यथार्थ की ओर आकृष्ट करने का प्रयास है। उसका क्षत्रित्व और उसकी तर्क शक्ति निम्नरूप में व्यक्त हुई है—

> **युद्ध की ललकार सुन प्रतिशोध से,**
> **दीप्त हो अभिमान उठता बोल है;**
> **चाहता नस तोड़ कर बहना लहू,**
> **आ स्वयं तलवार जाती हाथ में।**

किन्तु, मत समझो कि इस कुरुक्षेत्र में
पाँच के सुख ही सदैव प्रधान थे।

भीष्म और कवि का पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म में भेद करने में अपनी असमर्थता स्वीकार करना और कृष्ण की साक्षी पर कर्त्ता के हृदय की भावना को प्रधान कहना उनके सन्देश की एक शाश्वत रूप दे देता है। कवि ने पहले सर्ग में उठाये गए सांस्कृतिक प्रश्न का उत्तर व्यक्ति और समुदाय की भिन्नता को बताकर इस प्रकार दिया है—

व्यक्ति का है धर्म तप, करुणा, क्षमा,
व्यक्ति की शोभा विनय भी, त्याग भी,
किन्तु उठता प्रश्न जब समुदाय का,
भूलना पड़ता तप त्याग को॥

कवि की यह पंक्तियां भारत-विभाजन के बाद की गांधीवादी नीति पर भी स्पष्ट ही लक्षित दीखती हैं। कवि भीष्म से केवल क्षत्रियोचित उत्तर दिलवाकर ही संतुष्ट नहीं हो जाता, बल्कि तीन छोटे पदों में उसकी शंका का दार्शनिक उत्तर भी देता है। उसके ये शब्द अवधेय हैं—

और तू कहता मनोबल है जिसे
शस्त्र हो सकता नहीं वह देह का;
क्षेत्र उसका वह मनोमय भूमि है
नर जहां लड़ता ज्वलन्त विकार से।

कवि इसे राम के उत्तर द्वारा भी पुष्ट करता है:—

तप का परन्तु, वश चलता नहीं सदैव
पतित-समूह की कुवृत्तियों के सामने।

तृतीय सर्ग में भी तीन प्रकार के ही छन्द प्रयुक्त हुए हैं। मध्य का छन्द कवित्त ही है। पर, पूर्व और उत्तर के छन्द छोटे और मात्रिक हैं। ये दोनों ही १६ मात्रा के समछन्द हैं। यह छन्द दिनकर को सर्वाधिक प्रिय है। **'परशुराम की प्रतीक्षा'** में भी इसी की पुनरावृत्ति हुई है।

इस सारे सर्ग में भीष्म ही उत्तर देते रहे हैं। प्रश्न उठता है : तब

इसे द्वितीय सर्ग से ही सम्बद्ध क्यों नहीं कर दिया गया ? वस्तुत: दोनों सर्गों में भीष्म अलग-अलग बात का उत्तर दे रहे हैं । तृतीय सर्ग में **युद्ध-दर्शन** की मीमांसा है । द्वितीय-सर्ग में व्यक्ति की कातरता को तथाकथित नैतिकता के आवरण में छिपाने का विरोध किया गया था । तृतीय सर्ग में जिस युद्ध-दर्शन को कवि ने अभिव्यक्ति दी है, वह उसके जीवन-दर्शन से अभिन्न है । कवि का जीवन-दर्शन है :

मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् ।

अर्थात्, "सुलग-सुलग कर धुएं के रूप में बहुत देर तक जलने की अपेक्षा लटों के रूप में कुछ क्षण भर को धधक कर मिट जाना अधिक अच्छा है ।" इस सर्ग के प्रथम भाग की अन्तिम पंक्तियां 'अनल' की उपयोगिता और उसकी सारवत्ता पर लगभग इन्हीं शब्दों में बल देती हैं :

वे क्या जाने नर में वह क्या असहन शील अनल है,
जो लगते ही स्पर्श हृदय से सिर तक उठता बल है ?

अगले आठ कवित्त इसी एक पद्य की व्याख्या-मात्र हैं । परन्तु, दिनकर ने **आग** को निरी आग ही नहीं रखा है । वे जानते हैं कि विश्व में आग के साथ नीति का प्रश्न भी सदा से जुड़ता आया है । इसीलिए यहां युद्ध के नैतिक पक्ष पर भी विचार किया गया है । परन्तु इस सर्ग में नैतिकता को युद्ध छेड़ने के उत्तरदायित्व तक सीमित किया गया है । युद्ध आवश्यक है, कदाचित अनिवार्य भी है । परन्तु, प्रश्न यह है कि उसे छोड़ने का उत्तर-दायित्व किस पर है ?

इसी प्रश्न को इस सर्ग के तीसरे भाग में अधिक विस्तार से उठाया गया है । युग और व्यक्ति के सम्बन्ध को बताते हुए युधिष्ठिर को युग की हिंसात्मकता और विपरीतता का ध्यान दिलाया गया है । विगत युद्ध क्यों हुआ, और उसका दायित्व किस पर था, इसे बताकर कवि अन्तत: प्रश्न कर बैठता है—

पापी कौन ? मनुज से उसका न्याय चुराने वाला ?
या कि न्याय खोजते विघ्न का शीश उड़ाने वाला ?

चतुर्थ सर्ग का आरम्भ फिर मंगलाचरण के पद्य से होता है। परन्तु इसे कवि ने भीष्म के परिचय का अंग ही बना दिया है। छन्द यहां भी तीन प्रकार के ही प्रयुक्त हुए हैं। पहले दो पद्यों के बाद पन्द्रह पद्य भीष्म के युक्ति-क्रम में ही व्यक्त हुए हैं। यूं तो शेष पद्यों में इसी युक्ति-क्रम को प्रस्तुत किया गया है, फिर भी पहले पद्यों में महाभारत युद्ध की पृष्ठभूमि और बाद उसके उद्दीपन के कारण दिये गये हैं। **पृष्ठभूमि** के रूप में भीष्म ने समझाया है कि महाभारत के तात्कालिक कारणों की अपेक्षा बहुत समय से विद्यमान कुछ अन्य कारण भी थे। यदि पाण्डव असंतुष्ट वर्ग के प्रतिनिधि न बनते, तो दूसरा कोई इस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता। **उद्दीपन** के रूप में भीष्म ने राजसूय यज्ञ और उसके प्रभाव की विवेचना की है। जुआ, चीरहरण, आदि तो प्रतिक्रियाएं थी। उन्हें वास्तविक कारण न मान बैठना चाहिये। यहां यह भी अवधेय है कि भीष्म राजसूय यज्ञ वाले युक्ति-क्रम को भी पूर्वकथित पृष्ठभूमि पर ही घटा कर दिखाते हैं।

यहीं पर कवि भीष्म के मुख से **अनल** की 'शुद्धता' पर भी बल दिलवाता है। **शुद्ध अनल ही जीवन ज्योति है :** इस सत्य को भीष्म अपने जीवन पर घटा कर बताते हैं। जब वे न्याय को पहचानते थे, तब उन्होंने पाण्डवों का साथ क्यों न दिया, यह प्रश्न सदा ही सब के मन को कचोटता रहा है। भीष्म के द्वारा कवि **धर्म** और **स्नेह** का विभाजन करके धर्म की अपेक्षा स्नेह को महत्ता प्रदान करवा है। स्नेह के बिना धर्म अधूरा है; यद्यपि स्नेह स्वतः कम शक्तिमान् नहीं है। इसी स्नेह के बल पर भीष्म ने मरना स्वीकार किया।

> **धर्म, स्नेह, दोनों प्यारे थे, बड़ा कठिन निर्णय था,**
> **अतः एक को देह, दूसरे को दे दिया हृदय था॥**
> **किन्तु, फटी जब घटा, ज्योति जीवन की पड़ी दिखाई,**
> **सहसा संकत बीच स्नेह की धार उमड़ कर छाई।**

धर्म पराजित हुआ, स्नेह का डंका बजा विजय का,
मिला देह भी उसे, दान था, जिसको मिला हृदय का।

कवि प्रेम की इस विजय को भीष्म का यौवनोदय मानता है—

वय का तिमिर भेद वह मेरा, यौवन हुआ उदय था।

यही जीवन का चरम सत्य है—

मुझे शान्ति, यात्रा से पहले, मिले सभी फल मुझको
सुलभ हो गये धर्म, स्नेह, दोनों के संबल मुझको।

यहां भीष्म अपने पहले के मूक अन्याय-सहन की स्वयं निन्दा करते हैं। वे अपनी त्रुटि को भली-भांति पहचानते हैं। तब वे युधिष्ठर को फिर वैसी ही त्रुटि क्यों दोहराने दें?

इस प्रकार तृतीय और चतुर्थ सर्ग में अंतर यह है कि तृतीय सर्ग जहां **'युद्धदर्शन'** को प्रस्तुत करता है, चतुर्थ-सर्ग वहां **'महाभारत'** से विशिष्ट रूप में सम्बद्ध है।

पंचम सर्ग का आरम्भ भी मंगलाचरण से ही हुआ है। यहां कवि ने 'भारत-भारती' की शैली पर मंगलाचरण किया है। इस सर्ग में भी तीन प्रकार के ही छंद प्रयुक्त हुए हैं। आरंभिक छन्द २२ मात्रा का, मध्यवर्ती २७ मात्रा का और अन्तिम दुर्मिल छन्द वार्णिक है। तीनों छन्दों का चुनाव विषयानुसार ही किया गया है। आरम्भिक में कवि अपनी टिप्पणी दे रहा है। द्वितीय में युधिष्ठिर भीष्म के प्रति अपना प्रत्यावेदन या प्रत्युत्तर प्रस्तुत करता है। तीसरे छन्द में, प्रत्यावेदन न होकर, शोक और पश्चात्ताप प्रधान रहा है। दुर्मिल छन्द में उच्चारण के आधार पर मात्रा निश्चय हुआ है, मान्यता के आधार पर नहीं।

आरम्भिक अंश में कवि टिप्पणी का आरम्भ शारदा के सम्बोधन से करता है। वह अपने जलते युग की आग बुझाने इतिहास के पास जाता है। द्वितीय महायुद्ध ने उसे संसार की स्थायी सुखशान्ति की खोज के लिये विह्वल कर दिया। किन्तु, इतिहास ने भी उसके आगे नई समस्याएं खड़ी कर दीं। वहां भी वह कोई समाधान न खोज सका। इस

वैषम्य का कारण कवि ढूँढ लेता है। जिस यथार्थ की पृष्ठभूमि पर युद्ध लड़े जाते हैं, उनके बाद उसके बहुत दूर की भूमिका के आदर्श की बात उठने लगती है। युधिष्ठिर का यह दार्शनिक रूप उसे, व्यावहारिक राजनीतिज्ञ न रखकर, कोरा आदर्शवादी दार्शनिक बना देता है—यथार्थ से दूर !

वह देख वहां ऊपर अनन्त अम्बर में,
जा रहा दूर उड़ता वह किसी लहर में,
लाने धरणी के लिये सुधा की सरिता
समता-प्रवाहिनी, शुभ्र स्नेह-जल-भरिता।

कवि अपनी टिप्पणी का उपसंहार यथार्थ की भूमिका पर ही करता है—

लौटेगा जब तक यह आकाश-प्रवासी
आयेगा तज निर्वेद-भूमि संन्यासी,
मद-जनित रंग तेरे न ठहर पायेंगे,
तब तक माला के फूल सूख जायेंगे।

अन्तिम शब्द प्रसाद की 'अशोक की चिन्ता' के ऐसे ही शब्दों से कितने निकट हैं, फिर भी भाव-भूमि में कितने दूर ?

मध्य भाग का आरम्भ बुद्धि और हृदय के विरोध को दिखाकर युधिष्ठिर के हृदय की वेदना से होता है। युधिष्ठिर अब भी महाभारत युद्ध के भौतिक परिणाम को देख रहे हैं। उनके सम्मुख इसका लक्ष्य महान् नहीं रह गया है। इसीलिये उन्हें **संहार** की चिन्ता ही अधिक सता रही है। **एक शुष्क कंकाल, महाभारत का अनुपम दान**—कहने वाला युधिष्ठिर सत्य को, यथार्थ की पृष्ठभूमि पर न देखकर, संताप और पश्चात्ताप की मुद्रा में देख रहा है। निश्चय ही **गाँधीवादी दर्शन भी इसी विचार पद्धति पर बढ़ रहा था।**

अन्तिम भाग में भी है तो संताप ही। पर उसमें आत्म-परिताप अधिक है, दार्शनिक का पश्चात्ताप नहीं। इसके **अन्त** में युधिष्ठिर को फिर से अपनी पूर्वधारणा ही नये रूप में उचित जँचती है।

यह होगा महारण राग के साथ
युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा।

यह नया रूप भी यहीं स्पष्ट हुआ है। युधिष्ठिर नव-निर्माण के लिये कटिबद्ध हो जाते हैं। वे अब पलायन करना नहीं चाहते।

कुरुक्षेत्र की धूलि नहीं इति पन्थ की,
मानव ऊपर और-चलेगा;
मनु का यह पुत्र निराश नहीं,
नवधर्म-प्रदीप अवश्य जलेगा।

षष्ठ सर्ग का आरम्भ युधिष्ठिर की इसी भावना से होता है। कवि को उसका यह निश्चय वर्तमान विश्व की ओर खींच लाया है। उसे आज के विषम बने हुए समकालीन युग की समस्याएं कुछ उलझी सी दीखती हैं। शोषण, अन्याय और अत्याचार के अन्धकार को हटाकर ही आज के संसार में नया दीपक जल सकता है। अन्यथा उस अन्धकार के रहते आज की सम्पूर्ण प्रगति निस्सार है। मुक्त-छन्द पर आधारित इस सर्ग में कवि ने मनुष्य की प्रगति का अन्तिम लक्ष्य ढूँढ लिया है। राजनीति का चरम उद्देश्य उसी की पूर्णता होना चाहिये—

साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान ?
कब सुकोमल ज्योति से अभषिक्त
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण ?

षष्ठ सर्ग को स्वयं कवि ने 'बाह्य' स्वीकार किया है। प्रस्तुत प्रबन्ध से पृथक् होकर यह कवि का स्वतंत्र पर्यावलोचन एवं निरीक्षण है। इस पर भी, इस सर्ग का अपना महत्व है। इसे किसी भी रूप में व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। हां, विचारणीय यह अवश्य हो सकता है, कि इसे स्वतन्त्र सर्ग का रूप दिया जाय या नहीं ?

सप्तम सर्ग सर्वाधिक मुख्य है। छन्द इसमें भी पलटे हैं। आरम्भ में कवि की समीक्षा है : वह बताता है कि अन्त में युधिष्ठिर भी विश्व

पीड़ा को मिटाने के लिये कृत-संकल्प हो उठते हैं।

जब तक हैं नर की आँखों में शेष व्यथा का पानी ।।
पाप-पुण्य दोनों वृन्तों पर यह आशा खिलती है,
कुरुक्षेत्र के चिता भस्म के भीतर भी मिलती है ।
जिसने पाया इसे, वही है सात्विक धर्म-प्रणेता
सत्सेवक मानव-समाज का सखा, अग्रणी, नेता ।।
"मिली युधिष्ठिर को यह आशा आखिर रोते-रोते ।।

यह आशा कवि ने भीष्म के इन शब्दों में व्यक्त की है—

अन्त नहीं वर-पंथ का, कुरुक्षेत्र की धूल
आँसू बरसे तो यहीं, खिले शान्ति का फूल ।

भीष्म का कथन दो भागों में बँटा है। **प्रबोधन-भाग** को कवि ने कवित्त के द्वारा व्यक्ति किया है। **विवेचना-भाग** के लिये १६-१२ मात्रा का लघु मात्रिक छन्द अपनाया गया है । विवेचना-भाग में राज्य-कल्पना को समझाया गया है। यहां कवि ने भीष्म के द्वारा भौतिकवाद, पूंजीवाद, आदि के विश्लेषण के बाद 'साम्य' की अपनी कल्पना को स्पष्ट किया है। उसका यह विश्लेषण और 'साम्य' वर्तमान 'साम्यवाद' का अन्धानुकरण नहीं है। पंत ने 'युगवाणी' में जो सिद्धान्तानुवादमात्र किया है, उसकी अपेक्षा कवि दिनकर ने अपनी पूर्ण और विस्तृत योजना रखी है। पूंजीवाद की उत्पत्ति और उसके विश्लेषण में भी कवि गतानुगतिक वृत्ति से दूर रहा है । यहां कवि ने भाग्यवाद आदि का भी पूरा विश्लेषण किया है। इसी भाग्यवाद ने संसार में अनेक रूढ़ियों को जन्म दिया है। भारत के लिए तो यह अभिशाप ही बन गया है। भारतीय संस्कृति में **कर्म** और **संन्यास** का झगड़ा बहुत पहले से चला आ रहा है । गीता में भी इसकी पर्याप्त विवेचना हुई है । कवि ने यहां उसे वर्तमान जीवन के प्रकाश में रख कर देखा है ।

धर्मराज ! संन्यास खोजना, कायरता है मन की,
है सच्चा मनुजत्व ग्रन्थियाँ सुलझाना जीवन की !

'राजधर्म' के उत्तरदायित्व पर कवि का कथन हर युग पर लागू होता है—

राजतन्त्र है हेय, इसी से राजधर्म है भारी !

यहाँ कवि ने द्वितीय सर्ग के सदृश ही व्यक्ति और समुदाय की बात को भी स्पष्ट किया है—

दुर्लभ नहीं मनुज के हित, निज वैयक्तिक सुख पाना,
किन्तु, कठिन है कोटि-कोटि मनुजों को सुखी बनाना ।

यहाँ कवि प्रसाद की 'कामायनी' के उद्देश्य की भांति ही '**समता**' को लक्ष्य बनाकर बढ़ता है, किन्तु वह उसे '**समरसता**' की दार्शनिक और आध्यात्मिक भूमि तक नहीं जाने देता । **प्रसाद** जिस तटस्थ निरपेक्षता की बात कर जाते हैं, वह कुछ आध्यात्मिक सी बन जाती हैं । **दिनकर** उसी तथ्य को व्यावहारिक दृष्टि से प्रस्तुत करते हैं—

सब भेदभाव भुलवाकर, सुख दुख को दृश्य बनाता ।
मानव, कह रे, यह मैं हूं, यह विश्व नीड बन जाता । (कामायनी)

प्रसाद के इसी भाव को दिनकर ने यूं कहा है—

निज को ही देखो न युधिष्ठिर, देखो निखिल भुवन को,
स्ववत् शान्ति-सुख की ईहा में, निरत, व्यग्र जन-जन को !

संन्यास धर्म को कवि जीवन से पलायन मानता है ।

सदा भागता फिरता है वह, एकमात्र जीवन से ।

इसका कारण, **निष्काम-कर्म** जैसा महत्वपूर्ण सिद्धान्त न होकर, आलस्य और अकर्मण्यता की भावना है ।

बिना चढ़े फुनगी पर जो, चाहता सुधा फल पाना,
पीना रस-पीयूष, किन्तु, यह मन्दर नहीं उठाना ।
खारा कह जीवन-समुद्र को, वही छोड़ देता है ॥...
यह निवृत्ति है ग्लानि, पलायन का यह कुत्सित क्रम है ॥

प्रसाद से दिनकर में एक अन्तर यह है कि प्रसाद '**आनन्द अखण्ड घना था**' के प्रदेश में पहुंच जाते हैं, **और दिनकर** ऐसे प्रदेश की सत्ता को

यथार्थ-स्वीकृति देने से इन्कार कर देते हैं—

वह सपनों का देश, कुसुम ही कुसुम जहाँ खिलते है ।

यही अन्तर उन दोनों के सम्पूर्ण काव्य की विभिन्नता का आधार है । दिनकर कहते हैं—

नर जिस पर चलता वह, मिट्टी है, आकाश नहीं है ।

इसलिये ऐसी भूमिका पर वे जिस 'साम्यवाद' की अवतारणा करते हैं, वह अन्तर्राष्ट्रीय, या मार्क्सवाद पर आधारित, साम्यवाद नहीं है । बल्कि, उसमें जीवन और जगत् की विवेचना से उत्पन्न आध्यात्मिक और भौतिक स्तरों से उत्पन्न साम्य की भावना है । दूसरे शब्दों में, दिनकर साम्यवाद को व्यक्ति की आस्था का विषय स्वीकार करते है । वह साम्यवाद को मानवतावाद से सम्बद्ध कर देते है ।

अगम अतल को फोड़ बहाता, धार मृत्ति के पथ की,
रस पीता, दुन्दुभी बजाता, मानवता की जय की ।

कवि गीता के निष्काम कर्म का रहस्य समझ कर सचेत करता है—

बुला रहा निष्काम कर्म वह, बुला रही है गीता,
बुला रही है तुम्हें आर्त्त हो, मही समर-संभीता ।...
चेतन की सेवा तज जड़को, कैसे अपनाओगे ?

अन्त में कवि एक सच्चे कर्मयोगी की भाँति जीवन की परिभाषा देता है—

फूलों पर आँसू के मोती, और अश्रु में आशा,
मिट्टी के जीवन की छोटी, नपी-तुली परिभाषा ।

प्रसाद ने कामायनी के अन्त में कहा है ।

प्रतिफलित हुई आँखें सब,
उस प्रेम ज्योति विमला से !

दिनकर भी समाप्त करते हैं एक ऐसे ही भाव पर—

स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग-प्रीति से ।

इस प्रकार सप्तम सर्ग में राजनीति और जीवन की समन्वित विवेचना को साथ-साथ कवि ने अभिव्यक्ति दी है।

कुछ आलोचकों की दृष्टि में सम्पूर्ण 'कुरुक्षेत्र' का आधार सप्तम सर्ग पर ही स्थित है। ऊपर के वक्तव्य को पढ़ने के बाद यह स्पष्ट हो जायगा कि सातों सर्गों की वस्तु का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। भ्रम अवश्य हो सकता है कि एक-दूसरे का विषय मिलता-जुलता है। पर ऐसा कहना सत्य के विपरीत है। केवल षष्ठसर्ग को छोड़ कर बाकी सब सर्गों की कला एक तारतम्य में चली है। यदि अधिक स्पष्ट कहना चाहें तो कह सकते हैं कि **पहले पाँच सर्गों** में युधिष्ठिर की शंका और उसका उत्तर आ जाता है। **छठा सर्ग** कवि की स्वतन्त्र विवेचना है—वर्तमान विश्व की स्थिति और उसके भविष्य के प्रति चिन्ता! **सप्तम सर्ग** में भीष्म भावी राज्य का चित्र और उसके लिए नया राजनीति-दर्शन प्रस्तुत करते हैं।

विषय की एकता—इसलिए सम्पूर्ण काव्य की विषय वस्तु उलझनपूर्ण या दुखदाई नहीं है; बल्कि उसमें क्रमपूर्वक एक तथ्य को उठाकर उसका विश्लेषण किया गया है। युद्ध की विभीषिका, उसका कारण-विवेचन, और उसके अन्तर्हित दर्शन का रहस्य समझाना ही इसका उद्देश्य नहीं है, बल्कि राजनीति के वास्तविक उद्देश्य और उसके मार्ग की बाधाओं को हटाने का उपाय बताना भी कवि का लक्ष्य है। इसी लिये सप्तम सर्ग का सम्बन्ध अन्य सर्गों के साथ अविच्छेद्य रूप में हैं। और इस सप्तम सर्ग की भूमिका ही है—षष्ठ सर्ग!

सप्तम सर्ग की विषयवस्तु एक स्वतन्त्र सत्ता रखती है। इसलिए यदि उसकी स्वतन्त्र भूमिका भी आई, तो उचित ही है। **इस के प्रथम और षष्ठ सर्ग कृति की समीक्षाएं और भूमिकाएं हैं।** काव्य के दो भागों में विभाजित होने से भूमिका का भी द्विधा विभाजन उचित ही है। इसका विषय हुआ—**युद्ध का उन्मूलन और मानवतावाद।**

इस विषय-वस्तु को सर्गवार समझने के लिए इसका विभाजन निम्नरूप में किया जा सकता है—
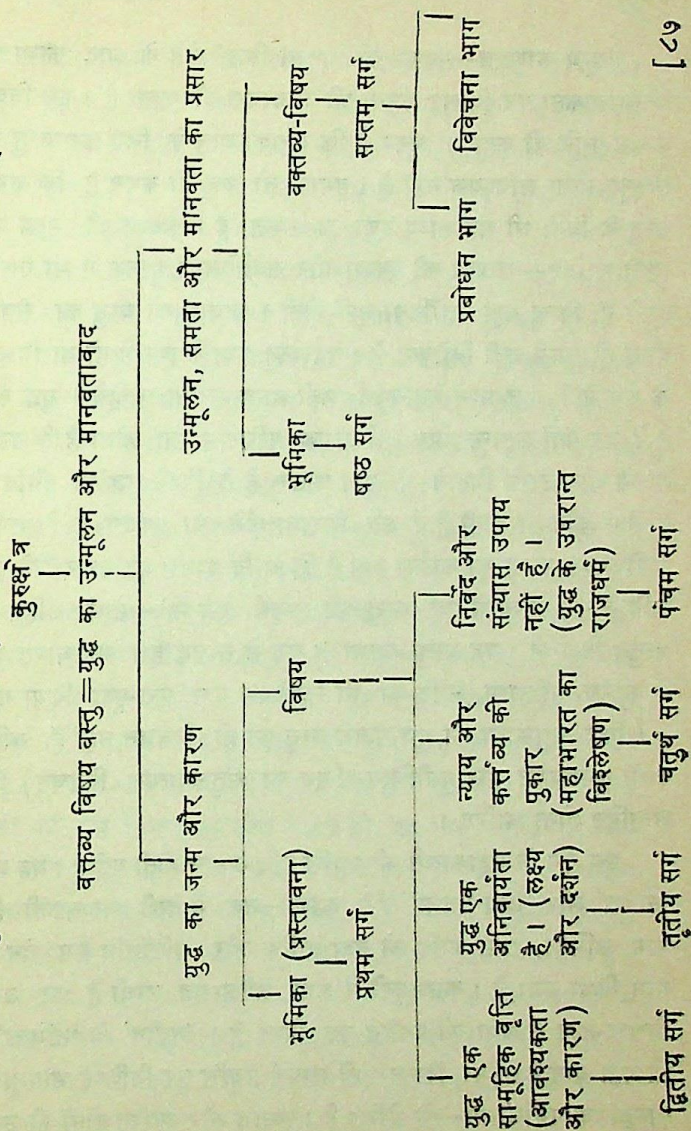
प्रबन्ध काव्यत्व—विषय की एकता सिद्ध होने के बाद काव्य की प्रबन्धात्मकता पर विचार करना भी आवश्यक हो जाता है। इस विषय में यह पहले ही कहा जा चुका है कि महाकाव्यत्व के लिए कथावस्तु का विस्तृत होना आवश्यक नहीं है। हमारा तो यह भी कथन है कि कथा-वस्तु के विना भी महाकाव्य रचा जा सकता है। प्रबन्ध की मुख्य शर्त होनी चाहिए—**वक्तव्य की एकता और सर्वांगिता**। मुक्तक में भी एकता होती हैं, किन्तु वहां सर्वांगिता नहीं होती। प्रबन्ध की वस्तु का सर्वांग होना ही सबसे बड़ी विशेषता है। यह वस्तु कथा के रूप में हो या विचार के रूप में ?, यह प्रश्न महत्वपूर्ण नहीं माना जाना चाहिये। युद्ध क्या है ? वह क्यों उत्पन्न होता है ? उसका परिणाम क्या होता है ? उसके टालने और उसके मिटाने में क्या अन्तर है ? किसी युद्ध की विविध-वृत्तियां कौन-सी होती हैं ? उसे मिटाया कैसे जा सकता है ? तथा, युद्धोपरान्त राज्य का कर्त्तव्य क्या है ?, आदि प्रश्नों का उत्तर देते हुए कवि ने इस काव्य में एक वस्तु को सम्पूर्ण रूप में —सर्वांग-सहित— प्रस्तुत किया है। यह वस्तु महाभारत युद्ध से सम्बद्ध है। महाभारत युद्ध के कारण, परिणाम, आदि का भी विश्लेषण यहां पूरा-पूरा किया गया है। फिर महाकाव्य का गुण केवल वस्तु का ही विवेचन नहीं हैं, बल्कि उसमें युगान्वयन और युगौचित्य (युग का संतुलनात्मक विवेचन) भी अन्तर्हित होना चाहिए।

इस युग के महाकाव्यों की प्रवृत्ति बुद्धि-प्रधान होती गई है। यह बात **'साकेत'** और **'प्रिय प्रवास'** जैसे काव्यों तक में देखी जा सकती है। राम, उर्मिला, राधा आदि को वहां प्रतीक और प्रतिनिधि रूप देने का यत्न किया गया है। **कामायनी** में कथा अपेक्षाकृत लम्बी है, पर उसमें विचार-तत्व ने कथा को पर्याप्त ढक दिया है। **'नवीन'** के 'उर्मिला' में भी यही बात है। फिर, दिनकर की सम्पूर्ण प्रवृत्ति एक विशिष्ट भावना—सांस्कृतिक पर्यालोचन—से प्रेरित है। समाज और व्यक्ति दोनों ही उसके पर्यालोचन के प्रमुख अंग रहे हैं। **'कुरुक्षेत्र'** में समाज की समस्या पर

सर्वांगीण विचार हुआ है, और **'उर्वशी'** में व्यक्ति की समस्या को उठाया गया है। युद्ध और विलास अथवा शौर्य और प्रेम का सर्वांगीण विश्लेषण इन दोनों काव्यों में हुआ है। 'उर्वशी' नाट्य रूप में होकर भी महाकाव्य स्वीकार किया गया है। वह भी घटना प्रधान न होकर विचार-प्रधान ही है। यही बात 'कुरुक्षेत्र' पर भी लागू होती है।

जहां तक महाकाव्य के परम्परागत लक्षणों का प्रश्न है, वे 'कुरुक्षेत्र' पर कतई नहीं घटते। अतः इस दृष्टि से विचार करना ही व्यर्थ है।

इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' एक समस्या के सर्वांगीण रूप को युगाधार पर परखने वाला विचार और विश्लेषण पर आधारित महाकाव्य है; जिसमें मानवता की उदात्त भावना, मानवीयता, जीवन-दर्शन, और शैलीगत प्रवाह आदि सभी लक्षण पूरी तरह पाये जाते हैं।

विषय का औचित्य—प्रबन्धौचित्य के साथ ही विषय के औचित्य की विवेचना भी देख लेनी उचित और अपेक्षित है। ऊपर हम विषयवस्तु का सर्गवार विश्लेषण, उसकी एकता और सर्वांगीणता दिखा आये हैं। महाभारत युद्ध हुआ और पाण्डव विजयी हुए। युद्ध ने महान् कलाकार, योद्धा और विचारक सभी मिटा दिये। चारों ओर छा जाने वाला विनाश इसके अतिरिक्त था। राज्य हाथ में आते ही युधिष्ठिर किंकर्तव्यविमूढ़ हो उठते हैं। विनाश से वे संत्रस्त और भयभीत हैं। अपने ही भाई अपने ही हाथों मारे गए! युद्ध का जोश मिटते ही, यह सब विनाश एक यम-दूत की भांति उन्हें चारों ओर से घेरने लगता है। 'धर्म' को स्वर्गीय वस्तु समझने वाले युधिष्ठिर इस सब विनाश में 'अधर्म' देखने लगते हैं, और वे संसार से पलायन और तप-त्याग की बात करने लगते हैं। युद्ध के आरम्भ में यही बात अर्जुन के मन में उठी थी। तब श्रीकृष्ण ने उसे समझाया था। 'महाभारत' के 'शान्ति-पर्व' में भीष्म ने वैसा ही उपदेश युधिष्ठिर को दिया, और उसे राजधर्म समझाया। दोनों का तत्त्व-सार एक ही है।

इस प्रकार विषय उचित व सावसर है। यह बात युगापेक्षा में

भी उचित बैठती है। इस काव्य का प्रणयन द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद हुआ है। भारत की अपनी समस्याएं भी सामने आ चुकी थीं। भारत को स्वतन्त्रता मिलनी निश्चित थी। प्रश्न था भारत और विश्व के भावी रूप का ! राजधर्म किधर मुड़ता है और अपना दायित्व शोषितों के प्रति क्या समझता है ?, यह प्रश्न मुख्य था। जब तक दलित राष्ट्र या दलित व्यक्ति रहेंगे, तब स्वार्थ और युद्ध का परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध बना रहेगा। इस विचार ने ही कवि को उत्तेजित किया। उसका 'कुरुक्षेत्र' इसी प्रश्न का उत्तर है। उसमें प्रश्नों को युग-सापेक्ष रूप में उठाया गया है।

इस विचार में यदि कथा-प्रसंग को नहीं लिया गया, तो वह उसके अनावश्यक होने के कारण ही। भीष्म और युधिष्ठिर के बीच संवाद-शैली में होने के कारण कथा-सूत्र को ढूँढने का प्रयास भ्रामक है।

उद्देश्य—इस काव्य के उद्देश्य को लेकर भी अब तक पर्याप्त कहा गया है। अधिकांश आलोचकों ने सप्तम सर्ग के वक्तव्य को देखकर इसे 'साम्यवाद' अथवा 'समाजवाद' का पोषक काव्य सिद्ध किया है। यहां हमें इन शब्दों के प्रयोग की स्वीकृति पर आपत्ति न होती, यदि इन शब्दों का सम्बन्ध किन्हीं निश्चित राजनैतिक और आर्थिक मान्यताओं से न होता। जब हम समाजवाद की बात करते हैं, तो वहां आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों का प्रश्न नहीं उठता। पर 'कुरुक्षेत्र' का कवि 'साम्यवाद' या 'समाजवाद' को व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्तरदायित्व मानता है। उसकी दृष्टि में जब तक व्यक्ति अपने दायित्वों को नहीं समझता, तब तक शान्ति की स्थिति नहीं आ सकती। राज्य का कार्य हो जाता है, अपने व्यक्तियों और समाज को इस उत्तरदायित्व के प्रति सचेत करना।

निश्चय ही कवि ने समाज में फैलने वाली विषमता का पूरा और सहेतुक विश्लेषण किया है। सप्तम सर्ग का यह विश्लेषण मार्क्स की पूंजीवाद सम्बन्धी धारणा का अन्धानुकरण नहीं है। कवि उसका संबंध नैतिक मूल्यों से कर बैठता है। समाजवाद-सम्बन्धी उसका वक्तव्य बहुत

थोड़ा ही आया है। उसी सर्ग में विश्लेषण नैतिक पक्षों के विषय में अधिक हुआ है। युद्ध, स्वार्थ, आदि का नैतिक और सामाजिक विश्लेषण ही आरम्भिक सर्गों में हुआ है। महाभारत युद्ध का विश्लेषण भी इसी आधार पर हुआ है। सभी जगह कवि का बल मानव और मानवता के उत्थान की ओर रहा है। समाजवाद उसी दिशा का एक सोपान बनकर आया है। उसे नैतिक और आध्यात्मिक स्तर पर लाकर भी कवि यथार्थ और युग-दर्शन से अलग नहीं हुआ है।

इसलिये कवि का लक्ष्य यहां, साम्यवाद न रह कर, **मानवतावाद** रहा है। मानवता का विनाश युद्धों से होता है। युद्ध जन्म लेते हैं स्वार्थों से! स्वार्थ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच खाई बोते हैं। भाग्यवाद आदि का आश्रय लेकर बढ़ने वाला पूंजीवाद इसी स्वार्थ का परिणाम है। अतः इस भेद-वृत्ति को समाप्त कर मानव-मानव के बीच समता और शान्ति के मूल को खोजने का प्रयास आवश्यक है। इसीलिये कवि ने **मानवता के साथ युद्ध** की समस्या को भी संनद्ध कर दिया है। इसीलिये हमने इस रचना की उद्देश्य बताया है—**युद्ध का उन्मूलन और मानवतावाद**।

शैली—सर्गवार विवेचन के समय छन्दों के पलटाव की बात कही जा चुकी है। साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि कवि ने ऐसा प्रसंगानुसार और जानबूझ कर किया है। छन्द की लघुता, दीर्घता, मुक्त-छन्दता आदि सकारण ही रही है।

वहीं मंगलाचरण, कवि-टिप्पणी, आदि की भी बात कही गई है। ऐसे कुछ स्थलों पर, तथा वार्णिक छन्दों के चुनाव में कवि परम्परा से प्रभावित दीख सकता है। पर कवि ने कुछ तो नयेपन की दृष्टि से तथा कुछ 'भारत-भारती', 'साकेत', और 'कामायनी' के अज्ञात प्रभावों के कारण वैसी शैलियाँ अपनाई हैं। गुप्त जी का कवि की शैली पर प्रभाव है ही। 'सिद्धराज' का मुक्त छन्द भी यहां सफल रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस में औरों की अपेक्षा मौलिकता भी है।

प्रश्न के रूप में ही अपनी बात कह जाने की शैली ने भी कवि को

अन्यों से व्यतिरिक्त सिद्ध किया है। उसका ढंग व्याख्यात्मक अधिक रहा है। अलंकारों के मोह में वह अधिक नहीं पड़ा है। भाषा उसकी विषयानुकूल और सरल रही है। विषय के प्रवाह और विश्लेषण-शैली के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है। कवि किसी भी सत्य को प्रत्येक अंग के विश्लेषण के साथ ही देखता है।

इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' नये युगादर्शों को स्थापित करने वाला विचारात्मक महाकाव्य है, जिसकी परम्परा का निर्वाह संस्कृति के किसी विचारक द्वारा ही सम्भव हो सकता है। ऐसे कवि कम हैं। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के **शिल्पी** आदि में इसी विचारात्मक शैली के दर्शन होते हैं। 'कामायनी' से अन्तर होते हुए भी यह उसी सरणि में बढ़ने वाला एक परम्परा-विद्रोही काव्य है। **पन्त** का हाल में प्रकाशित **'लोकायतन'** इससे भी अधिक विचार-प्रधान हो उठा है। परतु उसमें शैली और चिन्तन अधिक दुरूह हो उठे हैं। लक्ष्य उस का आदर्शवादी हो गया है। यथार्थवाद की भूमि पर **कुरुक्षेत्र से अधिक सुन्दर काव्य दूसरा नहीं।**

———

रश्मिरथी : जनकाव्य

केन्द्र-बिन्दु—दिनकर के काव्य-जगत् में 'रश्मिरथी' का स्थान केन्द्र-बिन्दु के रूप में कहा जा सकता है। 'कुरुक्षेत्र' के बाद आने वाला यह महाकाव्य सच्चे अर्थों में केवल महाकाव्य ही नहीं है, बल्कि कवि की दार्शनिक, सांस्कृतिक, कवित्वमय, धर्म-सम्बन्धी और रचनात्मक चेतना का सतर्क और सबल प्रमाण भी है। यह अकेला काव्य ही कवि की सम्पूर्ण चेतना और शक्ति का प्रतीक कहा जा सकता है। कवि का जो जीवन-दर्शन 'हुंकार' से जागा, और जिसकी पूर्णता 'परशुराम की प्रतीक्षा' में हुई, उसी का केन्द्र-विन्दु यह 'रश्मिरथी' है। केवल सामाजिक चेतना का प्रतिनिधि कह कर हम इसके साथ न्याय न कर सकेंगे। कवि ने जिन धारणाओं का आधार इस काव्य में लिया है, वे समाज की ही प्रतिनिधि धारणायें नहीं हैं। उनमें वह केवल सुधारवादी धारणा से ही नहीं बढ़ा है। बल्कि, उसमें मानवतावाद का एक ऐसा ज्वलन्त सत्य केन्द्र-बिन्दु के रूप में प्रमुख होकर चला है, जिसने उसे विचारक, कवि और दार्शनिक से ऊपर उठा कर महान्तम मानवतावादी सिद्ध किया है। उसकी अकेली इस रचना से ही हम उसका पूरा परिचय प्राप्त कर सकते हैं।

'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'रश्मिरथी'—परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि उसकी अन्य रचनाएं 'रश्मिरथी' के सामने फीकी है, या उनमें उसका प्रतिनिधित्व पूरी तरह नहीं हो पाया है। सत्य तो यह है कि 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी', 'उर्वशी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' एक ही कड़ी में चलने वाले विविधतामय चार काव्य हैं, जिनमें कवि के दर्शन, कवित्व,

संस्कृति-भावना, और उसकी रचना-शक्ति का पूरा परिचय हमें मिलता है। वह इन सब काव्यों में जिस रूप में हमारे सामने आया है, उससे वह केवल एक जन-कवि ही सिद्ध नहीं होता, बल्कि वह तथाकथित जन-कवियों या प्रगतिवादियों की अपेक्षा एक भिन्न स्तर पर भी सिद्ध होकर सामने आता है। 'कुरुक्षेत्र' और 'उर्वशी' में उसका विचारक रूप अधिक प्रबल रहा है। परन्तु, 'रश्मिरथी' और 'परशुराम की प्रतीक्षा' में उसका **वास्तविक जनकवि** रूप स्पष्ट हो पाया है। सत्य यह है कि ये दोनों काव्य एक-दूसरे के पूरक है। इन दोनों का ही प्रतिज्ञासूत्र 'रश्मिरथी' के एक वाक्य में संहित है :

जग में जो भी निर्दलित, प्रताड़ित जन हैं,
जो भी विहीन हैं, निन्दित हैं, निर्धन हैं।
यह कर्ण उन्हीं का सखा, बन्धु, सहचर है,
विधि के विरुद्ध ही उसका रहा समर है।

इसी सत्य को दूसरे शब्दों में कवि 'परशुराम की प्रतीक्षा' में स्पष्ट रूप में कहता है :

विक्रमी रूप नूतन अर्जुन-जेता का,
आ रहा स्वयं यह परशुराम त्रेता का।
यह उत्तेजित, साकार, क्रुद्ध भारत है,
यह और नहीं कोई, विशुद्ध भारत है।
हाँ, वही, न्याय-वंचित की जो आशा है,
निर्धनों दीन-दलितों की जो अभिलाषा है।

दोनों ही काव्यों में कवि 'ताण्डवी तेज' के हुंकार उठने की बात कहता है। अन्तर इतना ही है कि एक स्थान पर इस 'ताण्डवी तेज' को धारण करने वाला परशुराम स्वयं है और दूसरे स्थान पर इसको पुनर्जीवित करने वाला है परशुराम का शिष्य कर्ण है।[1] दोनों ही युग में युगधर्म

१. 'रश्मिरथी' में, 'ताण्डवी तेज लहरायेगा'; 'परशुराम की प्रतीक्षा' में, 'ताण्डवी तेज फिर से'।

की एक नवीन भावना भरने आये हैं। और, दोनों ही दलितों की भी आशा बनकर सामने आये हैं। कुन्ती को विश्वास दिलाते हुए स्वयं कर्ण कहता है :

है अभी उदय की लग्न, दृश्य सुन्दर है,
सब ओर पाण्डु-पुत्रों की कीर्त्ति प्रखर है।
अनुकूल ज्योति की घड़ी न मेरी होगी,
मैं आऊंगा, जब रात अन्धेरी होगी।

जनजीवन के समस्त अपमाना और प्रतारणा को अपने सिर पर सह कर भी न घबराने वाला, और मानवता के लिए आशा का एक नया सन्देश जगाने वाला, यह कर्ण जैसे मानवता का एक नया नेता बन गया है। श्रीकृष्ण के शब्दों में :

मनुजता का नया नेता उठा है,
जगत से ज्योति का जेता उठा है।

'परशुराम की प्रतीक्षा' में भी कवि ने इसी प्रकार के एक नये नेता के आने की बात की है :

गाओ कवियो ! जयगान, कल्पना तानो,
आ रहा देवता जो, उसको पहचानो।
है एक हाथ में परशु, एक में कुश है,
आ रहा नए भारत का भाग्यपुरुष है।

दोनों ही काव्यों में कवि ने 'वज्र से कठोर और कुसुम से कोमल' चरित्र के विरोधाभास को एकत्रित किया है। सच तो यह है कि कवि मानवता के सच्चे स्वरूप को जाति या गोत्र के बन्धन से सर्वथा ऊपर समझता है। 'रश्मिरथी' के इसी सन्देश को कवि ने 'परशुराम की प्रतीक्षा' में इस प्रकार कहा है।

यह नहीं जाति का, न तो गोत्र-बन्धन का;
आ रहा मित्र भारत-भर के जन-जन का।

इसी भाव को इन्द्र कर्ण के लिए दूसरे रूप में कहता है :

---

२. 'रश्मिरथी' एवं 'परशुराम की प्रतीक्षा'—'वही उठा सकता है—।"

तू पहुंचा है जहाँ कर्ण, देवत्व न जा सकता है
इस महान पद को कोई मानव ही पा सकता है ।

यहाँ कवि का बल **मानव** शब्द पर है । वह सच्चे मानव का उपासक है । और इस मानवता का प्रतीक ही है यह कर्ण ! मानवता की इस विजय की घोषणा कुन्ती के उस द्रोह-भरे उद्घोष में स्पष्ट झलकती है :

भागी थी तुझको छोड़ कभी जिस भय से,
फिर कभी न हेरा तुझको जिस संशय से,
उस जड़ समाज के सिर पर कदम धरूंगी,
डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूंगी ।

मानवता अब तक जिस बोझ से दबी और सहमी हुई चलती आई है, और सीना तानकर खड़ी होने से घबराती रही है, उसे ही गिरा देने की भावना लेकर कवि ने उक्त दोनों काव्यों की सृष्टि की है । यह बात कृष्ण द्वारा कर्ण के लिए कहे गये निम्न दो वाक्यों से सिद्ध होती है :

हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
दलित-तारक, समुद्धारक त्रिया का,
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर । कर्ण का अद्भुत हृदय था !
उगी थी ज्योति जग को तारने को
न जन्मा था पुरुष यह हारने को
मगर, सब कुछ लुटाकर दान के हित,
सुयश के हेतु, नर-कल्याण के हित ।

मनुजता का प्रतीक कर्ण परशुराम का ही सन्देश लेकर हमारे सामने 'रश्मिरथी' में आया है । पर, जैसे कवि ने उस सन्देश को व्यर्थ जाता देखकर, और बहरे कानों को और भी अधिक बहरा होते देखकर, उसी सन्देश को अधिक प्रखर रूप में सुनाने के लिए स्वयं गुरु परशुराम का आह्वान किया है । इस प्रकार ये दो व्यक्तित्व स्वतः दो छोरमात्र हैं कवि के मानवतावाद के ! इन दोनों के द्वारा उसने जहाँ जीवन के प्रति

अपने सन्देश को स्पष्ट किया है, तथा जहाँ देश के प्रति अपने विश्लेषण को निखार कर प्रस्तुत किया है, वहाँ उसने सतस्त दलित मानवता को, समाज के झूठे बंटवारे को, और युगों की झूठी अन्धानुगामिता को सान्मुख्य के लिए प्रबल आह्वान किया है। वह सच्चे अर्थों में स्वयं मानवता का पुजारी होकर उठा है। कदाचित् इसीलिए उसने 'कुरुक्षेत्र' के सामयिक और सीमित वक्तव्य की अभाव-पूर्ति 'रश्मिरथी' में की। गाँधी की मृत्यु के बाद लिखा जाने वाला यह काव्य मानवता के ऊद्धार के लिए ही आह्वान नहीं कर रहा, बल्कि मानव और समाज के आपसी सम्बन्धों को फिर से ठीक स्तर पर लाने के लिए भी सजग प्रेरणा दे रहा है। कवि कर्ण को किसी भी रूप में कृष्ण ओर भीष्म से नीचा स्थान नहीं देता। वह उसे महाभारत के अनुकरण पर ब्रह्मण्य, सत्यवादी, पती आदि विशेषणों से विभूषित करता है। इसीलिए कृष्ण के मुख से वह युधिष्ठिर को सम्बोधन करवा के कहता है :

युधिष्ठिर ! भूलिए, विकराल था वह,
विपक्षी था, हमारा काल था वह।
अहा ! वह शील में कितना विनत था !
दया में धर्म में कैसा निरत था !
समझकर द्रोण मन में भक्ति भरिए,
पितामह की तरह सम्मान करिए।

इस प्रकार के महान् **मानवतावादी काव्य** का सृजन करके कवि ने केवल अपने मानवतावाद का ही उद्घोष नहीं किया है, बल्कि वह समाज और विश्व को, अन्तर्मुख होकर, वस्तुस्थिति पर विचार करने के लिए भी बारबार आह्वान करता है। इसीलिए उसने इस काव्य का नाम, 'कर्ण' या 'सूत-पुत्र' आदि न रख कर, 'रश्मिरथी' रखा है। उसके अपने शब्दों में : "इस पुस्तक का नाम रश्मिरथी है, जिसका अर्थ होता है वह व्यक्ति, जिसका रथ रश्मि अर्थात् पुण्य का हो। इस कविता में रश्मिरथी नाम कर्ण का है; क्योंकि उसका चरित्र अत्यन्त पुण्यमय और प्रोज्ज्वल है।"

कर्ण के चरित्र का यह रूप उसे महाभारत में श्रीकृष्ण के इन दो वचनों से मिला है। कवि ने भी अन्त में ये ही शब्द दोहराए हैं।

ब्रह्मण्यः सत्यवादी च तपस्वी नियतव्रतः।
रिपुष्वपि दयावांश्च तस्मात् कर्णो वृषः स्मृतः॥
बहुनाऽत्र किमुक्तेन संक्षेपात् श्रृणु पाण्डव !
त्वत्समं त्वद्विशिष्टं वा कर्णं मन्ये महारथम्॥

कवि स्वयं, मानवता का सच्चा पुजारी होकर, अपने मन्तव्य को इस प्रकार प्रकट करता है :

ऊंच-नीच का भेद न माने, वही श्रेष्ठ ज्ञानी है,
दया-धर्म जिसमें हो, सबसे वही पूज्य प्राणी है।
क्षत्रिय वही, भरी हो जिसमें निर्भयता की आग,
सबसे श्रेष्ठ वही ब्राह्मण है, हो जिसमें तप-त्याग।

और इस सबके लिए वह कर्ण को ही प्रतिनिधि मानता है :

तन से समरशूर, मन से भावुक, स्वभाव से दानी,
जाति-गोत्र का नहीं, शील का, पौरुष का अभिमानी।

यह सब बात स्पष्ट करती है कि 'रश्मिरथी' में एक ओर जहां मानव के चरित्र और आतमबल को सर्वाधिक महत्वशाली ठहराया गया है, वहां, दूसरी ओर, उसमें मानव के बाह्य बन्धनों और उसकी मान्यताओं की अपेक्षा मानवता के समन्वित और सार्वत्रिक रूप को ही सर्वोच्च ठहराया गया है। कवि स्वयं उसी रूप का उपासक है, और युग को भी वह उसी रूप की पूजा के लिए प्रेरित करना चाहता है।

उद्देश्य : मानवतावाद—कवि के मानवतावाद का प्रथम स्वरूप हमारे सम्मुख सबसे प्रथम 'कुरुक्षेत्र' में प्रकट हुआ था। सच यह है कि कवि राष्ट्रीयता का पुजारी होकर जब से राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य के गीतों को गाने लगा, तब से ही उसके भीतर केवल स्वातन्त्र्य की भावना ही प्रबल नहीं रही है, वल्कि वह तभी से मानवतावाद का पुजारी भी रहता चला आया है। उसकी राष्ट्रीयता का जन्म ही मानवमात्र के दुखों से घबरा कर

हुआ था। उसने आरम्भ से ही बुद्ध के करुणा-सन्देश को मुख्यता नहीं दी। वह आरम्भ से ही कृष्ण की गीता के सन्देश को दुहराता आया है। कवि श्री श्रीनारायण ने उसके 'कुरुक्षेत्र' को 'आधुनिक गीता' कह कर एक सत्य की ही पुनरुक्ति की है। परन्तु, गीता में और कवि के 'कुरुक्षेत्र' में जो कुछ भी कहा गया है, उसका व्यावहारिक रूप हमारे सम्मुख इस 'रश्मिरथी' में ही पूर्णतः स्पष्ट हुआ है। यह काव्य कवि की एक निश्चित धारणा को हमारे सम्मुख प्रस्तुत करता है। यह समाज के समस्त अन्याय और शोषण के विरुद्ध नारेबाज़ी के आन्दोलन को खड़ा करने में विश्वास नहीं रखता। इसके विपरीत उसका बल मानवता के उन दलित मूल्यों को फिर से उठाने और शोषक कारणों का विश्लेषण करने पर अधिक रहा है। कवि राजनैतिक नेता की भांति केवल नारे लगाकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं समझता— समझ ही नहीं सकता। कवि तो क्रान्त-दर्शी है— मानवता के भविष्य को पूरी तरह परखने और देखने वाला! उसे केवल वर्तमान की सीमाओं में ही अपनी दृष्टि को नहीं दौड़ाना है। बल्कि वह तो काल की सीमाओं को तोड़ कर अतीत, वर्तमान और भविष्य को एक साथ और एक तुला पर रखकर विचार करने वाला क्रान्तिकारी स्वर-संयोजक है। अतीत की प्रेरणा, वर्तमान की प्रतिक्रिया, और भविष्य के प्रति अशावाद को एक साथ अपने स्वर में उठाने वाला कवि स्वयं ही तो 'त्रेता' का प्रतिनिधि— परशुराम—है। यह प्रतिनिधित्व हिन्दी के 'आधुनिक-युग' के अन्य किसी कवि में यदि मिलता है, तो वे हैं **जयशंकर प्रसाद**। अन्य सब कवियों ने या तो अतीत को झंझोड़ा है, या वर्तमान को, और या फिर भविष्य के स्वप्लिन आशावाद को ही। परन्तु तीनों को एक तुला पर रख कर अपनी चेतना के सम्पूर्ण बल के साथ एक नया मार्ग ढूँढने के लिए उत्सुकता लेकर बढ़ने वाले ये दो ही राही रहे हैं। यही कारण है कि आज का प्रगतिवादी आलोचक और कवि 'दिनकर' को प्रगतिवादी मानने को तैयार नहीं। किन्तु, दूसरी ओर, काव्य को विशुद्ध काव्यात्मक आदर्शों पर तोलने वाले आलोचक भी

'दिनकर' को ऊंचे कवित्व से सम्पन्न नहीं पाते। उनकी दृष्टि में राष्ट्रीय कवि होने के लिए राष्ट्र की स्वतन्त्रता, राजनैतिक अखाड़ेबाजी, अथवा संस्कृति के पुराने गीत— बंधी बंधाई परिभाषाओं और सीमाओं में— गाना ही उच्चतम कवित्व की निशानी नहीं है। इस दृष्टि से तोलने पर कवि **दिनकर** उन्हें छोटा जँचता है। वे उसकी भाषा में दोष ढूंढते हैं, और अलंकार-विधान और अन्य दृष्टियों से उसके काव्य को हीन पाते हैं। कुछ ने उसमें क्रोध की जलती आग पाई है, और उसके द्वारा कवि के विवेक को क्षीण होता पाया है।

पर, सत्य इन सब के विपरीत है। कवि का अकेला प्रस्तुत काव्य— 'रश्मिरथी'—ही इन सबको झुठला देनेको पर्याप्त है। 'कुरुक्षेत्र' की आलोचना करनेवाले, काव्यविधा को जो अनावश्यक महत्व देकर, उसके महत्व को हीन कर बैठते हैं, वे भी एक बार इस काव्य को पढ़कर देखें और जान लें कि दिनकर का मानवतावाद और उसका कवित्व भले ही किन्हीं आदर्श और परम्पराओं का अन्धानुगामी न रहा हो, किन्तु इस पर भी वह अपनी सीमाओं और सम्भावनाओं के प्रति पूरी तरह सजग है। काव्य की मर्यादाएं, उसके अलंकरण, उसका वक्तव्य, शब्द-शक्तियां, और भाषा सभी तो अपने पूरे निखार पर इस काव्य में चमक उठे हैं। कवि ने यह सब करते हुए भी अपने विद्रोह को दबाया नहीं है। हर क्षेत्र में बढ़ने वाली उसकी क्रान्ति-भावना, स्वयं रश्मिरथी कर्ण के अनुसरण पर, ताप और प्रकाश को एक साथ वहन करती हुई, इस काव्य में बढ़ी है। उसका लिखा प्रत्येक वाक्य किसी वक्तव्य की उग्रता से दीप्त और प्रेरित है। यह सब सन्देश किसी नारेबाज़ी के कारण नहीं है। इस काव्य में यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि **न तो वह गाँधी का अन्धभक्त बनकर चला है, और न ही मार्क्स का**। उसने दोनों के ही सद्गुणों और मन्तव्यों को परखा है। इस पर भी अपनी क्रान्त-दृष्टि के महत्व और स्वातन्त्र्य को कहीं भी महत्वहीन नहीं होने दिया है। यह उसका व्यक्तित्व ही है, जो प्रखर तेज धारण करके इस काव्य में आरम्भ से अन्त तक

चला है। चरित्र को इतना अधिक महत्व देने वाला ही चरित्र के ढोंगों को खोलने में समर्थ हो पाया है। आखिर पाण्डव भी उसी खून से और उसी रीति पर जन्मे थे, जिससे कर्ण। यह बात, केवल कर्ण ही नहीं कहता, कुन्ती ने भी स्वयं स्वीकार की है। इन्द्र भी इस सत्य का साक्षी है। तब फिर केवल **'कुमारी योषिता'** और **'परिणीता योषिता'** के अन्तर से ही उन भाइयों की महत्ता में अन्तर क्यों आ जाए? इस सत्य को जानकर भी लोग कर्ण से उसकी जाति पूछने का साहस क्यों करें? और, जाति भले ही कुछ भी हो, गुणों का साम्मुख्य होने पर इस प्रकार के दकियानूसी प्रश्नों को क्यों उठाया जाए? कवि इस सबका विरोधी है। वह जानता है कि आज के शोषक और शोषित का भेद इन्हीं झूठे प्रश्नों के आधार पर टिका हुआ है। यदि एक बार धर्म, जन्म, जाति, कुल, आदि की ये सब मर्यादायें छिन्न-भिन्न हो गईं, तो समाज में शोषकों का कोई वर्ग ही न रह जाएगा। अपने गुणों के बल पर बढ़ने वाला कोई व्यक्ति दूसरे की परम्परागत बातों के कारण ही क्यों दब जाए? केवल शक्ति का उपासक बनकर भी तो मानवता का उद्धार नहीं किया जा सकता। परन्तु, केवल शक्ति को झुठला कर भी मानवता को रक्षित नहीं किया जा सकता। त्याग और भोग, बल और सहनशीलता, आचार और शक्ति में समन्वय ही मानवता का सच्चा उद्धार कर सकता है। परन्तु इस सबके लिए आज की परिस्थिति का विश्लेषण आवश्यक है। तभी हम समझ सकेंगे कि आज मानवता के सम्मुख सच्ची समस्या क्या है? कवि के ही शब्दों में :

रण केवल इसलिए कि राजे और सुखी हों, मानी हों,
और प्रजाएं मिलें उन्हें, वे और अधिक अभिमानी हों॥
कहाँ तेज ब्राह्मण में? अविवेकी राजा को रोक सके,
धरे कुपथ पर जभी पाँव वह, तत्क्षण उसको टोक सके॥
चारों ओर लोभ की ज्वाला, चारों ओर भोग की जय,
पाप-भार से दबी-धँसी जा रही धरा पल-पल निश्चय॥

जब तक भोगी भूप प्रजाओं के नेता कहलायेंगे,
ज्ञान, त्याग तप नहीं, श्रेष्ठता का जब तक पद पायेंगे ।।
कवि कोविद, विज्ञान-विशारद, कलाकार पण्डित ज्ञानी,
कनक नहीं, कल्पना, ज्ञान, उज्वल चरित्र के अभिमानी,
इन विभूतियों को जब तक संसार नहीं पहचानेगा,
राजाओं से अधिक पूज्य जब तक न इन्हें वह मानेगा,
तब तक पड़ी आग में धरती, इसी तरह अकुलाएगी,
चाहे जो भी करे, दुखों से छूट नहीं वह पायेगी ।।

पृष्ठभूमि—कवि ने यह केवल यथार्थ के वर्णन की भावना से ही नहीं कहा। इस सबका वर्णन तो उसने इसलिये किया है, ताकि उस पृष्ठभूमि को पूरे रूप में प्रस्तुत कर सके जिस पर मानवता ने विकास पाना है। कवि का **मानवतावाद** किन्हीं स्वर्गीय आदर्शों से प्रेरित नहीं है, बल्कि वह तो सच्चे अर्थों में आज के जन-जीवन के विश्लेषण से जन्म लेकर बढ़ने वाली राह है, जिसमें युगों से स्थापित चारित्रिक और सामाजिक मर्यादाओं का मान है; किन्तु नयी व्याख्या के साथ ! उसमें धर्म, आचार, और मानवता की व्यवहार के अयोग्य परिभाषाएँ नहीं की गई हैं, बल्कि व्यावहारिक धरातल पर ही मानवमात्र को सही राह दिखलाने का यत्न किया गया है। हां, कवि **शक्ति का उपासक** अवश्य है। परन्तु, इसे भी मार्क्सवादी प्रेरणा न समझ बैठना चाहिए। मार्क्स ने जिस शक्ति की उपासना की है, उसमें एक वर्ग-विशेष के प्रति घृणा विद्यमान है और उसकी सत्ता को धरती से मिटा देने की भावना भी। परन्तु, दिनकर जिस हिंसा को चाहते हैं वह किसी की सत्ता मिटाने के लिए नहीं है, बल्कि अंकुश रखने के लिए है। वे यह जानते हैं कि शक्ति के सामने शोषक भी नत हो जाता है। बस, उसे नत करना और सही राह पर ले आना—यही **लक्षण** और **लक्ष्य** होना चाहिए शक्ति का। और, इसे धारण करने वाला व्यक्ति भी, सेना या पुलिस का अधिकारी ही नहीं, ज्ञान और विवेक का अधिकारी होना चाहिए—

रोक-टोक से नहीं सुनेगा, नृप-समाज अविचारी है,
ग्रीवाहर निष्ठुर कुठार का यह मदान्ध अधिकारी है।
इसीलिए तो मैं कहता हूं, अरे ज्ञानियो ! खड्ग धरो,
हर न सका जिसको कोई भी, भू का वह तुम त्रास हरो।
नित्य कहा करते हैं गुरुवर, खड्ग महा भयकारी है,
इसे उठाने का जग में हर एक नहीं अधिकारी है।
वही उठा सकता है इसको, जो कठोर हो, कोमल भी,
जिसमें हो धीरता, वीरता और तपस्या का बल भी।

इस कोमलता और कठोरता का सम्मिश्रित व्यक्तित्व ही है कर्ण— परशुराम का शिष्य ! वह तप और तेज का अधिकारी है। परन्तु, उसे यह समाज इसलिए जीने नहीं देना चाहता कि वह नीच कुल में जन्म लेने वाले के रूप में प्रसिद्ध है। कर्ण आत्म-ग्लानि में कह उठता है :

धँस जाये वह देश अतल में, गुण की जहाँ नहीं पहचान,
जाति-गोत्र के बल से ही, आदर पाते हैं जहाँ सुजान !

शोषण : मार्क्स से अन्तर—मार्क्स ने अपने सारे विश्लेषण को **पूँजी और उसके बँटवारे** से सम्बद्ध कर दिया। भारत का सम्पूर्ण सांस्कृतिक चिन्तन धन को इस प्रकार का महत्व देने के पक्ष में नहीं रहा है। निश्चय ही धन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं कि धन के सम्मुख और सब मूल्य तुच्छ हैं। इसीलिए यह मानना कि समाज केवल दो ही वर्गों में बँटा हुआ है, और सर्वहारा या शोषित वर्ग का जीवन केवल शोषक वर्ग को मिटाकर ही चल सकता है, बिल्कुल ग़लत है। सच तो यह है कि समाज में शोषण कई प्रकार का है। आज के संसार में रंग-भेद पर आधारित शोषण एक नये ही विस्तार को ग्रहण कर गया है। अमरीका के राष्ट्रपति कैनेडी की मृत्यु ऐसी ही मदान्धता का परिणाम थी। धार्मिक शोषण और विद्वेष हमारे राष्ट्र-पिता महात्मा गाँधी की मृत्यु का कारण बने। सुकरात, मंसूर और गैलीलियो को अपने विचारों का शोषण और दमन असह्य था। अतः धन का

शोषण ही सब कुछ नहीं है। मानव समाज अनेक रूपों में और अनेक क्षेत्रों में पीड़ित रहा है। भारत और यूरोप में भी जातिवाद की भावना नये-नये रूपों में इस शोषण को जन्म देती रही है। निर्धन भी सम्मानित होकर समाज में रह सकता है, पर **अंग-राज** घोषित हो जाने पर भी कर्ण को **सूतपुत्र** कह कर उसका अपमान किया जा सकता है। समानाधिकार से वंचित रहने के अनेक रूप हो सकते हैं। कर्ण इन सब शोषणों के विरुद्ध उठती मानवता का प्रतीक है। दुर्योधन उसे तत्क्षण अंग का राज्य दे देता है। किन्तु, जन्म के कलंक को वह भी धो नहीं सकता। एक शोषण समाप्त हुआ, पर दूसरा अब भी बाकी है। कुन्ती उसी शोषण को जगत् के सम्मुख धोने के लिए व्यग्र हो उठती है, और प्रतिज्ञा करती है कि मैं सबके सम्मुख **'डर चुकी बहुत, अब और न अधिक डरूंगी'**। यह है दूसरे शोषण का विरोध ! पर, कर्ण तो इन दोनों में ही अपनी शक्ति को कुण्ठित नहीं पाता। वह जानता है और भीम को ललकारता है :

बड़े वंश से क्या होता है, खोटे हों यदि काम ?
नर का गुण उज्ज्वल चरित्र है, नहीं वंश, धन धाम !

इस प्रकार कवि जिस **मानवतावाद** को लेकर चला है, वह मार्क्स के विश्लेषण पर आधारित नहीं है। सत्य तो यह है कि उसमें पूंजी को उतना महत्व दिया ही नहीं गया है। पर, इसका यह भी अर्थ नहीं कि कवि उस ओर से उपेक्षापूर्ण रहा है। वह जब प्रजा के ढोंगी नेताओं के स्वार्थों की पोल खोल कर ज्ञानी और पण्डितों को उसका सच्चा नेता घोषित करता है, तब वह उनका वर्णन इस प्रकार करता है :

असन-वसन से हीन, दीनता में जीवन धरने वाले,
सहकर भी अपमान मनुजता की चिन्ता करने वाले।

कवि समझता है कि आर्थिक समता स्वतः आ जाएगी, यदि मानवता की भावना और उससे जन्म लेने वाली समता की भावना सब में भर जाए। परन्तु वह इसे केवल भाग्य या भविष्य पर ही छोड़कर चुप नहीं रह जाता। वह जानता है कि उस दिन को लाने के लिए 'अनल' अथवा

खड्ग को धारण करना आवश्यक है। **परशुराम** जैसा ज्ञानी, अथवा **कर्ण** जैसा दानी, खड्ग को धारण करे, तो क्या यह निर्धनता और चरित्र की उज्ज्वलता के प्रति शक्ति का उपहास नहीं है ? शक्ति की सार्थकता तभी है, जब समाज में भेदभाव न धन के कारण रहे, और न जाति के कारण। इतना ही नहीं, किसी भी प्रकार का शोषण रहते शक्ति निरर्थक है।

गाँधीवाद से अन्तर—'कुरुक्षेत्र' में ही कवि मानवतावाद के अपने कल्पित स्वरूप की चर्चा करते हुए गाँधीवाद से उसके अन्तर को स्पष्ट कर आया था। गाँधीवाद को कवि ने निष्कर्मण्यता का दर्शन माना है। निश्चय ही गाँधी जी के आदर्श ऊँचे थे। परन्तु उन्हें अमल में लाने के लिये आज तक नेता जिस निष्कर्मण्यता का प्रचार करते रहे हैं, कवि को वह आरम्भ से ही रुचिकर नहीं लगी। यही कारण है कि कवि ने तप और त्याग तथा चरित्र और संयम के महत्त्व को स्वीकार किया। परन्तु, इस पर भी उसने **अहिंसा के स्थान पर शक्ति की उपासना ही की है।** वह गाँधीजी की भाँति सहिष्णुता को उस सीमा तक न ले जा सका, जहाँ अत्याचार को भी चुपचाप सहा जा सकता है। उसका परशुराम कह उठता है :

सहनशीलता को अपनाकर ब्राह्मण कभी न जीता है,
किसी लक्ष्य के लिए नहीं अपमान हलाहल पीता है।
सह सकता जो कठिन वेदना, पी सकता अपमान वही,
बुद्धि चलाती जिसे, तेज का कर सकता बलिदान वही।

वह अत्याचारों के सम्मुख भी सहनशीलता को, शक्ति का प्रतीक न मानकर, अशक्ति और निर्बलता का प्रतीक मानता है।

यही अन्तर है कवि के मानवतावाद में ! वह गांधी जी के **संरक्षकता-सिद्धान्त** को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है। वह किसी भी रूप में यह नहीं मानता कि धनी अथवा शासक वर्ग स्वयं ही किसी दिन हृदय-परिवर्तन के आधार पर शोषण का अन्त कर देंगे। समस्या जितनी विकराल है उसका इलाज भी उतना ही विकराल होना चाहिए। परन्तु,

उस विकरालता को धर्म, अथवा इससे मिलता-जुलता कोई और सुन्दर नाम देकर ढकने का प्रयत्न हमें नहीं करना चाहिए। गान्धी जी का सिद्धान्त स्वयं में कितना ही ऊँचा हो, पर व्यवहारतः उसे, आज की दुनिया में, धनियों को अपना दोष छिपाने का प्रबल अस्त्र मानने में कोई अड़चन न आएगी। कवि इस बात को जानता है कि ऐसी मीठी-मीठी लोरियां देकर अत्याचार-पीड़ित मानवता को अधिक देर तक सताया नहीं जा सकता। शोषण केवल एक ही क्षेत्र में तो नहीं है। गाँधी जी ने शोषण के सभी क्षेत्रों की ओर इंगित अवश्य किया था, किन्तु वे सब पर कठिन प्रहार न कर सके थे। इसीलिये संस्कृति का अपने ढंग पर विश्लेषण करके बढ़ने वाला कवि उन सब पर एक साथ ही कुठाराघात करता है। इसीलिये वह **ताण्डवी तेज** को धारण करने वाले **कठिन कुठार** को पुकार उठता है। 'परशुराम की प्रतीक्षा' में वह कहता है।

ताण्डवी तेज फिर से हुंकार उठा है,
लोहित में था जो गिरा, कुठार उठा है।

इसे ही 'रश्मिरथी' में कवि ने इस प्रकार कहा है।

ताण्डवी तेज लहरायेगा, साम्राज्य शान्ति का छाएगा।

यह ताण्डवी तेज ही मानवता का उद्धारक हो सकता है। कर्ण सम्पूर्ण दलित मानवता का प्रतिनिधि हो उठा है।

जो समाज की विषम वह्नि में चारों ओर जलेंगे
पग-पग पर झेलते हुए बाधा निःसीम चलेंगे।
मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिये उमंग जिन्हें चिर काल कलपना होगा।

कवच और कुण्डल को इन्द्र द्वारा माँगा जाता हुआ बताकर कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि गांधीवाद के पुजारी अहिंसा देकर अत्याचार पीड़ितों के अन्तिम अस्त्र **हिंसा** को भी छीन लेना चाहते हैं। सच

यह है कि इसके अतिरिक्त उनके पास मुकाबले की और वस्तु है ही नहीं। उन्हें शक्ति का एकमात्र सम्बल अपनी भुजा का बल ही है।

भुज को छोड़ न मुझे सहारा किसी और सम्बल का
बड़ा भरोसा था लेकिन, इस कवच और कुण्डल का।
पर, उनसे भी आज दूर सम्बन्ध किये लेता हूँ,
देवराज ! लीजिये, खुशी से महादान देता हूँ।

मानवता : कर्ण-धर्म—कवि जिस मानवतावाद का उपदेश देता है उसे इसी काव्य में वह 'कर्ण-धर्म' का नाम दे देता है। उसके शब्दों में :

श्रम से नहीं विमुख होंगे जो, दुख से नहीं डरेंगे,
सुख के लिए पाप से जो नर सन्धि न कभी करेंगे।
कर्ण-धर्म होगा धरती पर बलि से नहीं मुकरना,
जीना जिस अप्रतिम तेज से, उसी शान से मरना।

इस प्रकार कवि ने 'रश्मिरथी' के द्वारा जो सन्देश समाज को और मानवता को देना चाहा है रस, वह किसी देशकाल की सीमा से बँधा हुआ नहीं है। उसमें 'कामायनी' के समतावाद से अधिक प्रखर समतावाद की उद्घोषणा है। यह उद्घोषणा 'कामायनी' के से स्वप्निल वातावरण और आदर्श के पलने में नहीं पली है। *यहां आदर्श भी है, परन्तु यथार्थ के पलने में पलता हुआ ! यहां स्वप्न भी है, परन्तु भुज-बल का आश्रय लेकर बढ़ने वाला ! यहां यथार्थ है, किन्तु सयम की बाहों में लिपटा हुआ ! यहां शक्ति है; चरित्र और विवेक के बल पर बढ़ने वाली ! और, यहां चरित्र है, दया की भीख न माँग कर, अपने बल और अधिकार पर निखरने वाला !*

इस प्रकार के एक नये 'मानवतावाद' का सन्देश लेकर चला है यह 'रश्मिरथी' महाकाव्य।

वस्तु और शिल्प

कथा-वस्तु—इस के शिल्पविधान का बाह्याकार 'कुरुक्षेत्र' से मिलता-जुलता ही है। दोनों में सात सर्ग हैं, और प्रायः हर सर्ग में

छन्द-परिवर्तन है। पर, कथा-विस्तार में यह उसकी अपेक्षा अधिक व्यापक है।

प्रथम सर्ग में अन्तिम परीक्षा के अवसर पर, अर्जुन के अप्रतिम सिद्ध होने पर, अचानक ही भीड़ को चीरता हुआ कर्ण सामने आजाता है। वह शक्ति के इतने सस्ते महत्व को नहीं देख सकता, इसलिए ललकार उठता है। शक्ति की शक्ति को यह ललकार कहीं किसी नये भय को न ले आये, इसलिए, टालने का उपाय अन्य कुछ न देखकर, कृपाचार्य ने जन्म और जाति की बात को छेड़ना उचित समझा। इस प्रकार की बात हमारी संस्कृति के एक कमज़ोर विन्दु को सूचित करती है। गुण की गुण से टक्कर न होने देकर, हमने सदा ही उसे किसी अपमान से दबाने का यत्न किया है। यहां भी कर्ण के सम्मुख वही आह्वान आता है, और वह उसे झेलने को पूरी तरह तैयार है। द्रोण उसे शिक्षा न दें, इसकी उसे परवाह नहीं। परन्तु जाति का कलंक वह कैसे धोये ? फिर, राजवंश भी तो हरेक के भाग्य में नहीं लिखा। दुर्योधन धन के इस भेद को, अंग का राज्य कर्ण को सौंप कर, मिटा देता है। वह उसे गले लगा कर भाई भी घोषित कर देता है। पर, जाति का नाम लेकर जीने वाले और स्वयं अपने कलंक को न देख पाने वाले, अपनी आँखें मूँदे कर अपने को, सुरक्षित समझने से बाज़ नहीं आते। इसीलिए उनका यह आह्वान कर्ण स्वीकार करता है। वह अपनी शक्ति-संचय के द्वारा इस अपमान का उत्तर देना चाहता है।

दूसरे सर्ग में परशुराम के पास जाकर शिक्षा ग्रहण करना इसी निश्चय का परिणाम है। पर, अपने समय में नये युग-धर्म की प्रतिष्ठा करने वाला परशुराम भी तो जाति के इस विचार से मुक्त न था। क्षत्रियों के प्रति उसके विरोध ने उसे ब्राह्मणों को शस्त्रबद्ध अथवा रणदीक्षित करने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध कर दिया था। इस सब बात को लेकर ही कर्ण ने, अपनी जाति को छिपा कर स्वयं को ब्राह्मण-कुमार घोषित किया। उसका लक्ष्य बड़ा था, परन्तु साधन छोटा। साधन की इस

कमी को वह आड़े न आने देना चाहता था। इसलिए उसने अपना संकल्प पूरा करने के लिए एक छोटा-सा छल करना उचित समझा। चरित्र पर बल देने वाला कवि इस छल को भी सहना नहीं चाहता। इसीलिए उसने परशुराम के उस भेद-परक क्रोध को भी छल के द्वारा भड़कने वाला बतलाया है। सच यह है कि यह घटना जहां एक ओर उसके द्वारा मानव-मानव के बीच भेद की अस्वीकृति को सूचित करती है, वहां यही घटना चरित्र के प्रति उसके व्यामोह (?) को भी सूचित करती है। कवि चरित्र को केवल आदर्श का पुंज ही नहीं मानता। कृष्ण के द्वारा उसने **साधन की अपेक्षा साध्य की महत्ता** कहलाई है।

कर्ण के चरित्र में यह विरोधाभास है। परशुराम के पास रहने के लिए उसने साधन की महत्ता को स्वीकार न किया। किन्तु, ब्राह्मण के वेश में इन्द्र द्वारा छलपूर्वक कवच कुण्डल माँगने पर वह साधन की ही प्रशंसा करता है। यह बात कवि द्वारा माने हुए सत्य के विपरीत जा पड़ता है। साधन कुछ भी हो, कवि की दृष्टि में, उसकी पवित्रता-अपवित्रता का निर्णय साध्य की पवित्रता-अपवित्रता से ही हो सकता है। परन्तु, परशुराम भी इस बात को उस समय भूल गये, यद्यपि उन्होंने इसका प्रायश्चित भी शाप देने के साथ ही कर दिया। यह बात कवि के अपने मन्तव्य को स्पष्ट करती है।

तीसरा सर्ग कृष्ण और कर्ण के सम्वाद पर टिका हुआ है। यहां कृष्ण को कर्ण का वक्तव्य सुनकर स्वीकार करना पड़ा है :

तू कुरुपति का ही नहीं प्राण, नरता का है भूषण महान् !

यह बात उन्होंने तब कही, जब उनके द्वारा कर्ण को दिया हुआ समृद्धतम लोभ भी उसे पथ-भ्रष्ट करने में समर्थ न हो सका। कर्ण यहां जिस आदर्शवाद का पुजारी हो उठा है, उसने भारत को कई बार धक्का पहुँचाया है। कृष्ण के यथार्थवाद के सम्मुख वह स्वयं यथार्थ की उस भूमि पर उतरने में असमर्थ रहा है। इस पर भी मज़ा यह कि उसने झुकने से सर्वथा इन्कार कर दिया है। यह बात भले ही भारत को विनाश

की ओर ले गई, परन्तु इससे एक नये युग-धर्म की सृष्टि भी अवश्य हुई। हमारा कार्य केवल दूसरों का अन्धानुकरणमात्र ही नहीं होना चाहिए। कृष्ण अपने युग के लिए भले ही आदर्श रहे हों, परन्तु कर्ण उनका अन्धानुकरण नहीं कर सकता। आखिर उसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व है। उसे छोड़कर वह विचारात्मक शोषण का एक नया रूप क्यों सहे ? कर्ण इस प्रकार की असहिष्णुता को भी अपने अंदर लेकर चला है। यही उसकी क्रान्ति भावना या विद्रोह-भावना है।

चतुर्थ सर्ग में अपने भुजबल पर विश्व से टक्कर लेने की सामर्थ्य और उत्साह रखने वाला कर्ण सब कुछ उत्सर्ग करने के लिए भी उद्यत है। मानव आदर्श की दौड़ में कहां तक जा सकता है और इस प्रकार वह अपने लिए कहां तक हानि का सृजन कर सकता है, यह वात कर्ण के कवच और कुण्डल के दान से स्पष्ट होती है। यही कथा है **चतुर्थ सर्ग** की ! यहां कवि ने, कर्ण के चरित्र की महानता को दिखा कर भी, यह बताया है कि वह आदर्शों के भुलावे में आकर यथार्थ और कर्त्तव्य को भूल गया। परन्तु, उससे एक नये यथार्थ का सृजन हुआ। आदर्शों का अन्धानुकरण उनके लिए बुरा हो सकता है, जो यथार्थ के प्रति सजग नहीं है। परन्तु, जो यथार्थ से पूर्ण परिचित हैं. और इस पर भी आदर्श का अनुसरण करते हैं, वे आत्म-शक्ति पर पूर्ण विश्वास लेकर चलते हैं। कर्ण, इसी आत्म-शक्ति और विश्वास के बल पर, सब कुछ जानकर भी बलिदान के लिए सजग होजाता है। इस त्याग में गांधी के त्याग की छाया ढूँढी जा सकती है। किन्तु कवि तो इसे भारत की आदर्शवादी परम्परा का अखण्ड सूत्र मानता है। भारत ही नहीं, संसार भर के उदाहरणों से वह सिद्ध करता है कि इस प्रकार के बलिदान ने ही व्रत-निष्ठा और जीवन के प्रति आस्था को जगाया है। कवि कह उठता है :

जहाँ कहीं है ज्योति जगत में, जहाँ कहीं उजियाला,
वहाँ खड़ा है कोई अन्तिम मोल चुकाने वाला।

कर्ण का यह बलिदान व्यर्थ भी तो नहीं गया। **'शिव-दधीचि की**

पंक्ति छोड़कर, जग में अयश न लूँगा'—कहने वाला कर्ण अपने कवच और कुण्डल को काट कर दे देता है। वह नहीं मानता कि सब बाधाएं और विरोध उसे भाग्य के कारण ही मिल रहे हैं। इस पर भी वह अपने सबसे बड़े अस्त्र को स्वयं अपने से जुदा करने के लिए तैयार हो जाता है। वह इसमें भी रण के बिना ही अपनी विजय मानता है। इन्द्र से अन्तिम प्रार्थना करते हुए वह कहता है कि आप जाकर स्वर्ग में इतना अवश्य कह देना :

उद्वेलित जिसके निमित्त पृथ्वीतल का जन-जन है,
कुरुक्षेत्र में अभी शुरू भी हुआ नहीं वह रण है।
दो वीरों ने किन्तु लिया कर आपस में निपटारा,
हुआ जयी राधेय और अर्जुन इस रण में हारा।

वह जानता है कि अर्जुन के लिए ही कृष्ण, इन्द्र और कुन्ती उससे कुछ माँगते रहे हैं। सभी ने तो उस पर एक न एक सीमा लगा दी है। और, सबसे बढ़कर, परशुराम उसे अपने ही दिये बल से हीन कर बैठे हैं। इस पर भी कर्ण अपनी सबसे बड़ी शक्ति को स्वयं ही दान कर देता है। पर. यह समर्पण किसी निःशक्त और निःसम्बल का नहीं है। बल्कि यह किसी शक्तिमान् का त्याग है। इन्द्र इस बात को पहचानते हैं। इसीलिए वे अपने ही लिए हुए असम्मानकारक और झूठे दान के बदले उसके बल को पूर्ण करना चाहते हैं। उनका यह कथन मननीय है :

तू दानी, मैं कुटिल प्रवंचक, तू पवित्र मैं पापी,
तू देकर भी सुखी और मैं लेकर भी परितापी।
तू पहुंचा है जहाँ कर्ण, देवत्व न जा सकता है,
इस महान् पद को कोई मानव ही पा सकता है।

क्या इन्द्र द्वारा यह **मानवतावाद** की खुली स्वीकृति नहीं है? और, क्या यह मानवतावाद आज के तथाकथित मानवतावाद की अपेक्षा भिन्न और उच्च नहीं है? इसमें गाँधी के हृदय-परिवर्तन की भावना भी

है, और साथ ही यथार्थ के प्रति उन्मुख-सजगता भी ! इसीलिए यथार्थ की भूमि पर आकर इन्द्र कह उठते हैं :

ले अमोघ यह अस्त्र, काल को भी यह खा सकता है,
इसका कोई वार किसी पर विफल न जा सकता है।

इस प्रसंग को पढ़ते ही प्रसाद के निम्न शब्द याद आ जाते हैं।

देकर कुछ कोई नहीं रंक, दो लो प्रसन्न यह स्पष्ट अंक।

अपना सर्वस्व देकर भी कर्ण ने कम महत्व की वस्तु नहीं पाई।

पंचम सर्ग कुन्ती के प्रायश्चित्त का सर्ग है। पर, वह केवल प्रायश्चित्त की भावना से ही परिचालित नहीं है। यदि ऐसा होता तो वह पाण्डवों को भी युद्ध से विरत कर देती। मौका पड़ने पर स्वार्थ की प्रवंचना से कर्ण को **पुत्र** कहने के लिए विह्वल न हो उठती। कर्ण ने इस बात को कठोर सत्य के रूप में दुहराया भी है। उसका अपना हृदय मचल उठता है, सच्ची मां का सच्चा स्नेह पाने के लिए ! किन्तु, आखिर वह भी तो मानव है। उसके भी अपने कुछ स्वार्थ हैं। वह भी धोखे और छल को पहचानता है। इसलिए वह सीधे झुकने से इन्कार कर देता है। फिर भी उसने कुन्ती को मां समझ कर यह आश्वासन दे ही दिया कि उसके चार पुत्रों को वह अभय-दान देगा। कवि ने यहां एक बहुत ही चमत्कारपूर्ण युक्ति ढूँढ निकाली है। 'पाँच पाण्डवों' की बात प्रसिद्ध है। कवि जानता है कि कर्ण पाण्डव घोषित होते ही यह संख्या 'छह' बन जाएगी। इसलिए यहां पर संख्या पर ही आधारित एक युक्ति को चलाता है। कुन्ती अपने पुत्रों की संख्या पाँच से छह करना चाहती है। कर्ण उसे समझाता है कि अर्जुन के उसके अपने विरोध के परिणामस्वरूप एक की तो मृत्यु होगी ही। इसलिए पांण्डवों की संख्या **पाँच** ही रहेगी। यदि कर्ण मारा गया, तब तो यह संख्या ऐसे ही बनी रहेगी। पर, यदि अर्जुन न रहा, तब कर्ण उसकी कमी को पूरा करने स्वयं पांण्डवों में जा मिलेगा। यह बात कुन्ती को एक और युक्ति में ले जाती है। वह न कर्ण को खोना चाहती है और न अर्जुन को। यदि उन दोनों ने आपसी युद्ध का

हठ रखा ही, तो उसके लिए केवल चार ही पाण्डव सुरक्षित रहे। छह, पाँच और चार के इस संख्यापरक झगड़े को बहुत ही सुन्दर और कवित्वमय ढंग पर कवि ने इस अंक में प्रस्तुत किया है। कुन्ती अपने इस नये पुत्र से विदा होते हुए, उसे बिना बोले ही आशीर्वाद दे जाती है:

बेटे का मस्तक सूँघ, बड़े ही दुख से,
कुन्ती लौटी कुछ कहे बिना ही मुख से।

षष्ठ सर्ग की कथा कर्ण के सेनापतित्व से आरम्भ होती है। पर, अभी कर्ण पूर्णत: सेनापति घोषित नहीं हुआ। यहां कवि ने उस प्रसंग को चित्रित किया है, जहां इन्द्र की दी हुई अमोघ शक्ति भी अर्जुन पर वार के लिए सुरक्षित नहीं रह पाती। कृष्ण ने अत्यन्त चतुरतापूर्वक घटोत्कच को आगे करके उस शक्ति को किसी अन्य ही स्थान पर गिरवा दिया। रुचि के विपरीत कर्ण को यह प्रयोग, दुर्योधन के विवश करने पर, करना ही पड़ा। अन्यथा वह तो इसे तब भी अर्जुन के लिए ही बचाये रखना चाहता था।

परन्तु, इस शक्ति से भी हीन होकर—सब तरफ से अशक्त और प्रताड़ित-प्रवंचित—कर्ण द्रोण के मारे जाने पर सेनापति घोषित किया जाता है। वह अपने ही बल पर जय-प्राप्ति के लिए सन्नद्ध होता है।

सप्तम सर्ग में उसके उस दु:खद अवसान का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जिसमें कृष्ण को धर्म और अधर्म की चर्चा करते हुए हम पाते हैं। कर्ण ने भी इस तथाकथित धर्म की अच्छी पोल खोली है। परन्तु कृष्ण यहीं पर **साध्य की प्रमुखता** घोषित करते हैं। वे कर्ण के रहते अन्याय का दमन असम्भव समझते हैं। इसलिये छलपूर्वक उसे दलदल में फँसाकर, निरस्त्र अवस्था में ही, मरवा डालना अपना धर्म समझते हैं। अर्जुन उस क्षण में, कर्ण की ही भांति, वीर-धर्म के असमंजस में पड़कर हिचकिचाता है। किन्तु, कृष्ण उसे **अन्तिम मौके** की बात कह कर कर्ण को मरवा डालते हैं। पर, इतने से ही तो उनकी दृष्टि में कर्ण पापी नहीं ठहर जाता। **धर्मराज** कहलाने वाले कायर युधिष्ठिर उसे

केवल एक अजेय योद्धामात्र ही मानते हैं। परन्तु, कृष्ण तत्काल कह उठते हैं :

> न भूलें आप केवल जीत को ले,
> ...किया क्या प्राप्त ? हम सबने दिया क्या ?
> चुकाया मोल क्या ? सौदा लिया क्या ?
> ...मगर, जो हो, मनुज सुवरिष्ठ था वह,
> धनुर्धर ही नहीं, धर्मिष्ठ था वह,
> तपस्वी, सत्यवादी था, व्रती था,
> बड़ा ब्रह्मण्य था, मन से यती था।
> हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
> दलित-तारक समुद्धारक त्रिया का,
> ...उगी थी ज्योति जग को तारने को,
> न जन्मा था पुरुष यह हारने को।
> ...मनुजता का नया नेता उठा है,
> जगत् से ज्योति का जेता उठा है।

महत्त्व—व्यक्ति-चरित्र पर आधारित होकर भी यह काव्य कई चरित्रों पर आधारित है। चरित्र-प्रधान होकर भी यह सामाजिक यथार्थ और युगादर्श की विवेचना करने वाला है। छोटा-सा होकर भी उच्चतम सन्देश को देने वाला है। सच ही, किसी आलोचक का यह कहना उचित है कि **'दिनकर के सर्वश्रेष्ठ काव्य-ग्रन्थ के रूप में 'कुरुक्षेत्र', 'रश्मिरथी' और 'उर्वशी'—तीनों—में ही परस्पर होड़ लगी हुई है।'** कहा जा चुका है कि शेष दोनों काव्य विचार-प्रधान अधिक हैं। परन्तु, इस काव्य में विचारों की प्रधानता के साथ-साथ कथासूत्र की प्रधानता भी अधिक है। 'उर्वशी' का कथासूत्र भी पर्याप्त व्यापक है, पर उसमें कथा का प्रवाह ऐसी तीव्रता और पूर्णता के साथ नहीं हुआ है। 'कुरुक्षेत्र' में तो कथासूत्र है ही नहीं ! वहां विचारधारा की प्रबलता है। 'उर्वशी' में, कथासूत्र होने पर भी, चरित्रों की अपेक्षा चारित्रिक आदर्शों की प्रधानता अधिक

है। परन्तु, 'रश्मिरथी' को परम्परावादी ढंग का **नायक-प्रधान महाकाव्य** कहा जा सकता है। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि नायक-प्रधान काव्य कहने पर भी इसे घटना-प्रधान नहीं कहा जा सकता। नायक का जीवन घटनाओं से भरा होता है, और कर्ण का जीवन भी इसी प्रकार का है। इस पर भी कुछ अन्तर है। वह यह कि कर्ण के जीवन की समस्त घटनायें कवि को नये-नये विचार के लिए प्रेरित करती हैं। वह कहीं भी केवल कथासूत्र को बढ़ाने में ही उत्सुक नहीं रहा है। हर स्थान पर आदर्श और यथार्थ की टक्कर उसने दिखाई है। इस पर भी, वह व्यक्ति-चरित्र के विकास को एक-सूत्र में रख पाने में समर्थ हुआ है। **चरित्र-प्रधान होकर भी यह काव्य विचारधारा-प्रधान है, और विचार-धारा-प्रधान रहते हुए भी इसमें वर्णनों को पूरा अवकाश रहा है।** कुछ स्थलों पर युद्ध की भीषणता का वर्णन कम दिखाई देता है। परन्तु, कवि द्वारा ऐसा करना किसी भी प्रकार खला नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थलों पर कवि **वक्तव्य** पर अधिक ध्यान देता है, **वर्ण्य** पर नहीं।

चारित्रिक आदर्श—ऊपर की पंक्तियों में कर्ण के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। इस काव्य का नाम ही चरित्र के आधार पर पड़ा है। इन्द्र, कृष्ण और परशुराम के द्वारा जिसके चरित्र को सर्वथा निश्छल-निष्कपट बताया गया है, कुन्ती भी उसी कर्ण के सम्मुख नत-मस्तक है। अपने आचार की अपवित्रता का उद्‌घोष-मात्र ही वह अपने पुत्र के सम्मुख नहीं करती, वल्कि उसके चारित्रिक महत्व को भी स्वीकार करती है। योद्धा के रूप में, पुत्र के रूप में, मित्र अथवा सेवक के रूप में, शिष्य अथवा वशवर्ती के रूप में, दानी अथवा राजा के रूप में, नेता अथवा विचारक के रूप में—सभी प्रकार से कर्ण का चरित्र निष्कलंक और सर्वोच्च ठहरता है। कृष्ण का धर्म जिस यथार्थवाद पर आधारित है, कर्ण उससे पूर्णतः परिचित होकर भी, स्वयं उसे अपनाने में समर्थ नहीं हो पाता। वह यथार्थ के प्रति अत्यधिक सजग रह कर भी परम आदर्श का पुतला है। वह स्वयं को दीन-हीन और शोषितवर्ग

का नायक और 'आदर्श' उद्घोषित करता है, जैसे उसका जीवन अपना हो ही नहीं। लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, अथवा अवसरवादिता, आदि कोई मानवीय दुर्गुण उसे छू नहीं पाया। समाज की समस्त ग्लानि और अवमानना को सहकर भी वह उसके प्रति कोई शिकायत नहीं रखता। अपने अधिकार को माँगने की अपेक्षा वह अपने कर्तव्य और भुजबल पर अधिक भरोसा रखता है। वह दूसरों को सब कुछ देकर ही स्वयं को बड़ा समझता है। क्षत्रिय हाथ फैलाना नहीं जानता, परन्तु फैले हाथों को खाली लौटाना भी कर्ण को नहीं आता। फिर वे हाथ चाहे कृष्ण के हों, इन्द्र के, अथवा कुन्ती के। वह जानता है कि आत्म-बलिदान देकर ही मानव का सच्चा महत्व सामने आता है।

देवत्व—ऐसे आदर्शवाद को कवि 'देवत्व' नहीं मानता। वह तो इन्द्र के द्वारा इसे **मानवता** का ही नाम दिलवाता है। कृष्ण भी उसे कर्ण को 'मनुजता' का सबसे बड़ा पोषक मानते हैं। इस प्रकार पीड़ित मानवता का प्रतिनिधि हो कर भी कर्ण सम्पूर्ण मानवता के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर जाता है। वह राजा भी है और रंक भी। वह कुलीन भी है और अकुलीन भी। वह किसी को अपना नहीं कह सकता, इस पर भी जन-जन उसे चाहता है। उसके पास अपना कुछ भी नहीं है, जिस पर वह अभिमान कर सके, फिर भी वह भुजबल का धनी है। पर, उसका बल भुजबल में नहीं है। चरित्र, धर्म, सत्य, दान, दया और शौर्य, सबके एकत्र समन्वय में ही उसका महत्व है। रंग, जाति, वंश या धन की मर्यादायें उसके सम्मुख तुच्छ हो जाती हैं। वह जिस मानवता का सन्देश लेकर उठा है, उसमें केवल स्वप्निल आदर्शों का ही संयोग नहीं है, बल्कि यथार्थ की पुट अधिक है। उसका अपना जीवन भले ही आदर्शों पर टिका हो, पर वह चारों ओर के सामाजिक यथार्थ के प्रति अपनी आँखों को खोलकर चलता है। जानते-बूझते वह अपने को लुटाता है; परन्तु शक्तिहीनता के कारण नहीं, अपनी शक्ति के बल पर ही। यह बात ध्यान में रखकर ही हमें विचार पर बढ़ना चाहिए।

महाकाव्यत्व—इस वस्तु-विधान पर विचार करने के वाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यह काव्य **चरित्र-प्रधान महाकाव्य** कहा जा सकता है। इसमें जितनी भी घटनाएं चित्रित हुई हैं, उनका उद्देश्य प्रमुख नायक के चरित्र को स्पष्ट करना ही है। पर, यह चरित्र स्वयं किसी 'आदर्श' का प्रतीक है। यह विरोधाभास ही है कि यथार्थ के प्रति अत्यधिक सजग होकर, एवं स्वयं यथार्थ का विकृत परिणाम सहकर, भी कर्ण स्वयं एक आदर्श पथ का राही है। इस विरोधाभास को स्पष्ट करने के लिए कवि को इस काव्य में विचारप्रधान शैली अपनानी पड़ी है। मूल वक्तव्य की दृष्टि से इस काव्य को 'कुरुक्षेत्र' का अगला और स्वाभाविक कदम ही कहा जा सकता है।

इसका नायक हीन कुल में पालित होकर भी उच्च-कुलोत्पन्न है। उसका चरित्र युग का प्रतिनिधित्व करने के कारण अत्यन्त व्यापक है। **इन्द्र** उसे देवों से भी बड़ा, तथा **कृष्ण** उसे 'धर्मराज' से भी महान्, बता कर उसकी अलौकिकता का आभास देते हैं। प्रकृति-चित्रण आदि कुछ पुरानी मान्यताओं को इसमें स्थान नहीं है, किन्तु **युद्ध-वर्णन** एवं **घटना-वर्णन** की दृष्टि से इसमें वर्णनों की कमी नहीं है। सर्गों की संख्या पर आपत्ति की बात वहुत पहले से ही महत्वहीन हो चुकी है। भाषा और अलंकार का यथावसर वैचित्र्यमय प्रयोग हुआ ही हैं।

इस प्रकार परम्परागत परिभाषाओं की दृष्टि से भी इसे महाकाव्य कहा जा सकता है।

चरित्र-चित्रण—इसमें केन्द्रीय और मुख्य चरित्र **कर्ण** का ही है। परन्तु, इसका मतलब यह नहीं कि और चरित्रों को इसमें स्थान नहीं मिला है। कुन्ती, दुर्योधन, कृष्ण, इन्द्र, अर्जुन, कृपाचार्य, द्रोण, आदि के प्रासंगिक चरित्र भी इसमें वर्णित हुए हैं। परन्तु उनका महत्व प्रासंगिक से अधिक नहीं है। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि उन छोटे-छोटे चरित्रों के द्वारा कवि ने समाज के विविधतामय परिपार्श्व का चित्रण पूरा करना चाहा है। मुख्य चरित्र, नायक के रूप में, कर्ण का ही

है। उसका चरित्र भी व्यक्तिगत न रहकर प्रतिनिधि बन गया है। वह दलित समाज और साधनहीन मानवता का नया नेता है।

चरित्र-चित्रण में **मनोवैज्ञानिकता** का होना अत्यावश्यक है। कर्ण ने यहां लोभ, द्वेष, प्रसाद, अभिमान, निष्ठा, आदि विविध चित्तवृत्तियों के कुशल प्रयोग एवं उनकी विजय के द्वारा कर्ण के चरित्र को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त ग्राह्य बना दिया है।

भाषा और शैली—इस सम्बन्ध में सत्य लगभग वे ही हैं, जिन्हें हमने भाषा और कला सम्बन्धी अध्याय में बताया है। संक्षेप में, कवि की भाषा सरल एवं विषयानुकूल है। इसमें संस्कृत की जटिल शब्दावली का समावेश वहां पर ही हुआ है, जहां कवि या तो महाभारत के वचनों का अनुवाद कर रहा है (**ब्रह्मण्य, यती, सत्यवादी** आदि), अथवा जहां ऐसा करना अनिवार्य रहा है। अन्यथा उसकी भाषा सरल ही रही है।

छन्द इसमें भी प्रत्येक सर्ग में पलटते रहे हैं। कवि की शैली प्रायः सभी प्रबन्ध-काव्यों में यही रही है। अलंकारों की चर्चा यथास्थान की जा चुकी है। यहां यह स्मर्तव्य है कि कवि अलंकारों का प्रयोग जान-बूझ कर नहीं करता है। वे उसके सम्पूर्ण काव्य की भांति स्वतः ही प्रवेश कर जाते हैं। व्यंग्यात्मक और परिकर शैली के सम्मुख वस्तुतः, 'माध्यम' महत्वपूर्ण न रहकर, वक्तव्य महत्वपूर्ण हो उठता है।

'दिनकर' की शैली के प्रसंग में वक्तव्य की तीक्ष्णता और वेग पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। 'व्यंग्य' का प्रयोग अतिशयमात्रा में करके भी, वह उसे इस रूप में प्रयोग नहीं करते कि उनका वक्तव्य जन-जन की समझ का न रह जाए। बल्कि उनका व्यंग्य इतना सरल होता है कि वह उनके कथन को अधिक ग्राह्य बना देता है।

इस प्रकार रश्मिरथी काव्य, छोटा-सा चरित्र-प्रधान काव्य होकर भी, दिनकर के सम्पूर्ण कृतित्व का प्रतिनिधि या केन्द्रीय बिन्दु कहा जा सकता है : विचारों की दृष्टि से भी और शैली की दृष्टि से भी।

१०

दिनकर और उर्वशी

'उर्वशी' के प्रकाशन को भारतीय साहित्य के इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना कहने वालों की कमी नहीं। इस ग्रन्थ की प्रशंसा में सभी प्रमुख आलोचकों ने वहुत कुछ कहा है। परन्तु, ऐसे आलोचकों की भी कमी नहीं, जिन्होंने, इसके विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए, विषय के निर्वाह और कवि के विचारों पर आपत्ति की है। इनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने अपनी सम्मति दोनों ओर ही प्रकट की है।

महत्त्व—'उर्वशी' का प्रकाशन **'कामायनी'** के वाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना है। दोनों के निर्वाह, शैली और विषय में अन्तर हो सकता है। परन्तु, इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार **'कामायनी'** अपने युग के लिए एक सन्देश देने में समर्थ हुई थी, उसी प्रकार **'उर्वशी'** ने भी अपने युग के लिए एक सन्देश दिया है। **दोनों सन्देशों की व्यापकता और उनके क्षेत्र में अन्तर हो सकता है। परन्तु, दोनों में से किसी का भी महत्व दूसरे से कम छहीं कहा जा सकता।**

'उर्वशी' कवि के जीवन दर्शन का निचोड़ है। कुछ कवि ऐसे भी होते हैं,जो अपने जीवन-दर्शन को एक शब्द में बन्द करना पसन्द नहीं करते। दिनकर ऐसे कवियों में से ही है। उन्होंने जिस प्रकार के विविधतामय काव्य को लिखा है, उससे, दूसरों को ही नहीं, स्वयं उन्हें भी भ्रम हो सकता है कि उनकी एकता को बनाये रखने वाला एक सूत्र कौनसा है? **'रसवन्ती'** और **'उर्वशी'** दिनकर के उस प्रत्यक्ष दीखने वाले एकतासूत्र से अलग पड़ते दिखाई देते हैं। मनोवैज्ञानिक आलोचक इसकी पूरी गहराई में गये बिना, यदि इन्हें कवि की रुद्ध कामकुण्ठाओं से सम्बद्ध कर

बैठें, तो कोई आश्चर्य न होना चाहिए। जीवन के उन्मुक्त भोग को ग़लत रूप में प्रस्तुत कर हम अर्थ का अनर्थ कर सकते हैं, यदि न जान पायें कि उसका भाव-स्रोत कहां से उमड़ा है ?

पृष्ठभूमि—'उर्वशी' के पढ़ने से पहले हमें कवि की जीवन-दृष्टि को, उसके सम्पूर्ण काव्य की पृष्ठ-भूमि में, समझ लेना अधिक उचित होगा। कवि सर्वत्र ही वीरता और भोग की बात करता आया है। यह बात दिनकर के साथ ही नहीं है, बल्कि अन्य बहुत से कवियों के साथ भी यही होता आया है। हिन्दी के आदिकालीन वीर-रसात्मक कवि चंद और उसके सम-सामयिकों के काव्य में **वीरता और विलास का यह मणि-कांचन संयोग** सर्वत्र देखा जासकता है। सत्य तो यह है कि जीवन को जिसने भी रण-क्षेत्र मान लिया, वह युद्ध और विलास में दो स्थितियाँ नहीं देख सकता। उसके लिए दोनों ही स्थितियों में एक मध्यवर्ती समान सूत्र सदा विद्यमान रहता है। यह मध्यवर्ती सूत्र दिनकर के काव्य में **'अनल'** कहा जा सकता है। आग उगलने वाला यह कवि **'हुंकार'** से पहले से ही आग उगलता आया है। **'उर्वशी'** के बाद की रचना **'परशुराम की प्रतीक्षा'** में भी उसने यही 'आग' उगली है। यह आश्चर्य की बात है कि कवि का यह 'अनल' शब्द उसके काव्य में एक केन्द्रवर्ती शब्द बन कर रह गया है। इसके बिना जैसे कवि की कल्पना बढ़ती ही नहीं। नवीनतम कृति 'कोयला और कवित्व' में भी यह बात स्पष्ट है।

'उर्वशी' इसी **'अनल'** शब्द की एक दूसरी व्याख्या है। कवि के जीवन का उसे हम भले ही प्रौढ़तम और प्रतिनिधि काव्य कह लें, तब भी वह उसकी जीवन की अनल-सम्बन्धी धारणा से अलग नहीं ठहरता। आरम्भिक दृष्टि में यह एक **'शृंगारी काव्य'** लगता है। और, ऐसा लगने का एक प्रमुख कारण है कालिदास के **'विक्रमोर्वशीय'** का अनुशीलन। 'विक्रमोर्वशीय' की कथा का आधार ऋग्वेद के एक सूक्त पर है। कुछ विवेचक ऋग्वेद के इस सूक्त को ऐतिहासिक महत्व का स्वीकार नहीं करते। कुछ और विवेचक कालिदास के **'विक्रमोर्वशीय'** को भी एक

रूपक मानते हैं। निश्चय ही प्रसाद के उन शब्दों में कुछ सार था, जो उन्होंने 'कामायनी' के आख्यान की प्राचीनता के कारण उसे रूपक समझे जाने के विषय में कहे थे। कोई भी प्राचीन आख्यान, अपना विशिष्ट रूप खोकर युग में एक रूढ़ि या भावना का प्रतिरूप बन जाता है। फिर, कवि तो किसी भी घटना को काव्य का आधार बनाता ही तब है, जब वह उसके द्वारा जीवन को कोई विशिष्ट सन्देश दे सके। अन्यथा, केवल कथा कहना न कवि का धर्म होता है, और न वह उसमें सिद्धहस्त होता है। कवि अन्तर्जगत् का प्राणी है। वह हर वस्तु को,केवल बाह्य आकार में न लेकर, आन्तरिकता में उतर कर ग्रहण करता है। **दिनकर, कालिदास, या ऋग्वेद का कवि**, तब, किस प्रकार उसे केवल एक बाह्य घटना के रूप में वर्णन कर पाता ? आख्यान की प्राचीनता ही नहीं, उसकी सजीवता और प्रतीकात्मकता भी स्वयं कुछ महत्व रखती है। सृष्टि में असंख्य प्राणी होते हैं। परन्तु, सभी के जीवन कथा के विषय नहीं बन जाते। कुछ विशिष्ट जीवन ही ऐसे होते हैं, जिनके माध्यम से कुछ कहा जा सकता है।

तुलना—इस पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट होगा कि कालिदास भी केवल एक कथा कहने ही नहीं बढ़े थे। ऋग्वेद के सूक्त में से उन्हें कुछ झाँकता नज़र आया, और उन्होंने उसे 'विक्रमोर्वशीय' का रूप दे डाला। संस्कृत की परम्परा से अनजान आज का आलोचक, केवल टीकाओं के सहारे से पढ़ने का यत्न कर, उसे एक कथानक मात्र मान बैठता है। पर सत्य यह है कि **प्रेम की दिव्यता का जो सूत्र कालिदास की, आरम्भ से अन्त तक, सभी कृतियों में विद्यमान है, वही विक्रमोर्वशीय में भी विद्यमान है**। दिनकर का काव्य प्रेम की उस पृष्ठभूमि पर नहीं बढ़ा है। **प्रेम** वहां पर **कर्म** का साथी बन कर आया है। जीवन के व्यस्त संघर्ष को कालिदास ने उतना गहरे से चित्रित नहीं किया। वे उसके सौन्दर्य पक्ष के उपासक थे। दिनकर ने, **यथार्थ** के नाम से प्रसिद्ध, जीवन के इसी **गहरे पक्ष** को लिया है। **'उर्वशी'** का आरम्भिक अध्ययन कदाचित्

इस सत्य से विपरीत लगे, और कदाचित् उसे प्रेम का एक काव्य करार दे दिया जाए। पर सत्य कुछ और है।

'उर्वशी' में पुरूरवा और उर्वशी का सम्वाद केवल अनल शब्द पर ही टिका है। पुरूरवा शौर्य का साक्षात् प्रतीक है। वह अपने बल से स्वर्ग तक को जीत आया है, परन्तु **कर्म** और **भोग** को वह अलग-अलग मानता आया है। जीवन की वह धारणा, जिसमें हम आनन्द को जीवन से व्यतिरिक्त और ऊँचा मान कर बढ़ते हैं, पुरूरवा को भी आकृष्ट कर पाई है। **कालिदास** प्रेम की इसी भूमिका पर बढ़े थे। **प्रसाद** ने भी प्रेम की इसी भूमिका को ढूँढा। **रवीन्द्र** एक ऐसे ही सौन्दर्यमय संसार को, रहस्यवाद के माध्यम से, खोज रहे थे। **पुरूरवा** भारतीय संस्कृति की इसी परम्परा का प्रतिनिधि है। उसने, जीवन के यथार्थ में जूझ कर भी, अपनी दृष्टि जीवन से ऊपर—**पद्मपत्रमिवाम्भसा**—ही रखी है। **'गीता'** का अनासक्ति का सन्देश वहां इसी रूप में अनुकृत हुआ है।

भारतीय आदर्श—**'दिनकर'** ने पुरूरवा के माध्यम से भारतीय संस्कृति के मान्य आदर्शों को एकत्रित प्रस्तुत किया है। वे जानते हैं आदर्श की ओर बढ़ने वाली यह संस्कृति यथार्थ का नग्न मूल्यांकन नहीं करना चाहती, भले ही वह उससे डरना भी नहीं चाहती। हम इसे युक्ति और तर्क के द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। पर 'दिनकर' की धारणा के अनुसार, यह पलायन का ही एक रूपान्तर है। अपनी पलायनवादी मनोवृत्ति के कारण हम सत्य से खुलकर नहीं जूझते। बल्कि 'आदर्श' के नाम पर उससे दूर भागना चाहते हैं।

विरोध—उर्वशी पुरूरवा को चाहती है। वह उसके बल और शक्ति से प्रभावित होकर आकृष्ट हुई है। वह नहीं चाहती कि पुरूरवा इतनी बली होकर भी जीवन के सुखों से उपराम रहे। देव-लोक को युद्धों में सहायता देने वाला और समस्त ज्ञात भूमण्डल पर विजय प्राप्त कर लेने वाला पुरूरवा जब देव-लोक की सी बातें करता है, तब उसे कुछ अजब सा लगता है। वह स्वयं देवलोक की अप्सरा है, और वहां से आई है। उसे

दिव्य जीवन का आनन्द और उसका रहस्य भीतर से मालूम है। वह नहीं चाहती कि जीवन ऐकान्तिक होकर बढ़े। परन्तु, पुरूरवा जीवन के संग्राम में इतना उलझा है कि उसे यह जीवन निरा एकान्त प्रतीत होता है। हम इसे दूर के ढोल सुहावने कहें, या कुछ और; यह अद्भुत सत्य है कि **न तो उर्वशी अपने देवलोक में प्रसन्न है, और न पुरूरवा मृत्युलोक में**। दोनों ही अपने **अन्तों-अतियों** से दुखी हैं। उर्वशी मर्त्यलोक की ओर और पुरूरवा देवलोक की ओर आकृष्ट है।

सत्य पर कौन—दोनों में से सत्य पर कौन स्थित है ? लगता है, उर्वशी जीवन के रहस्य को अधिक समझती है। कम से कम मानव के पलायन से वह बचना चाहती है। वह जानती है कि **पुरूरवा जब हाथ में आए भोग को भोगने में समर्थ नहीं, तो वह उससे भागने में शान्ति कैसे पाएगा ?** अपने दार्शनिक युक्तिक्रम के आधार पर पुरूरवा उसे समझाने का प्रयत्न करता है। परन्तु, उर्वशी का दर्शन भी कम प्रबल नहीं है, और उसकी युक्तियां सत्य पर अधिक आधारित हैं। उर्वशी ने ही उसे समझाया है कि **जीवन का सत्य, प्राप्त सुखों को छोड़ कर, काल्पनिक सुखों में उलझना नहीं है**। उसने ही संयम का वास्तविक रहस्य बताया है। **संयम जीवन से भागने का नाम नहीं है, उसे अच्छी प्रकार भोग कर भी, असंयत न होने का नाम है**। पुरूरवा इस सत्य को नहीं समझ पाता। उसे इसका आभास होता है, परन्तु उर्वशी के जाने के बाद। उसके रहते वह देवलोक की कल्पनाओं में उलझा रहता है, और वहाँ की बड़ी-बड़ी आकर्षक बातें स्मरण करता रहता है।

अनल—उर्वशी ने ही उसे 'अनल' का वास्तविक रहस्य समझाया है। यह अनल—गृहस्थ हो या रणक्षेत्र—दोनों स्थानों पर सदा ही सजग रहना चाहिए। इसका क्षेत्र केवल रण ही नहीं है, जीवन भी है। पुरूरवा इसके पहले सत्य को स्वीकार करता है, परन्तु दूसरे भाग पर उसकी श्रद्धा नहीं है। जीवन में प्रेम और सौन्दर्य के सुन्दर सपनों को देखने को वह लालायित रहता है। यही कारण है कि उसने कहीं भी भोग में

'उलझने' से अपने को बचाये रखा है। इस उलझन से सर्वथा दूर और निर्लिप्त रहने वाली उर्वशी अपनी अनासक्ति और अलगाव से तंग आ चुकी है। जिस जीवन में शरीर और हृदय, दिल और दिमाग़, मन और तन को अलग-अलग समझा जाये, उसमें उसे आस्था नहीं। वह केवल अनल का ही समन्वय नहीं खोजती, बल्कि उसने जीवन का भी—उसके दोनों पार्श्वों का भी—समन्वय खोजना चाहा है। **भोग और त्याग, सौन्दर्य और प्रेम, आदि दो अलग अन्त या अति नहीं हैं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं।** उर्वशी का संकेत, इन दोनों को एक-दूसरे का पूरक समझ कर, इन्हें पूरी तरह भोगने का है। वह जानती है कि इनमें न उलझ कर भी इन्हें भोगा जा सकता है। परन्तु पुरूरवा कर्म और भोग में भी अन्तर कर बैठता है। उसके लिए कर्म उचित है, पर भोग को वह जीवन के पतन की दिशा मानता है। प्रेम से वह घबराता नहीं। पर प्रेम की जो परिभाषा उसने स्वीकार की है, वह शरीर की अपेक्षा मन और बुद्धि से अधिक सम्बन्ध रखती है। वह प्रेम की दिव्यता और उसके उच्च आदर्शों की व्याख्या उर्वशी को समझाता है। वह भूल जाता है कि **प्रेम का प्राथमिक सम्बन्ध शरीर से है, भले ही उसका स्थिरीकरण हृदय में होता हो।** अन्ततः हृदय भी शरीर से अलग अपनी सत्ता नहीं रखता। हृदय इच्छाओं का केन्द्र है, और इस कारण उसमें उठने वाली हर इच्छा उसकी ही गिनी जायेगी। शारीरिक भोग की इच्छा भी हृदय की ही इच्छा है। फिर एक स्वाभाविक प्रक्रिया को छोड़कर और हृदय की इच्छाओं को कुचल कर हम नये आदर्शों की स्थापना करना चाहें, और हृदय को उधर चलने के लिए विवश करके उसमें संयम का नाम देना चाहें, तो यह उर्वशी को—और उसके माध्यम से **दिनकर** को—स्वीकार नहीं।

तीन पथ—कवि **अनल** को कर्म और भोग, सौन्दर्य और बुद्धि, एवं प्रेम और आसक्ति—के द्वन्द्व का विषय स्वीकार करता है। वह जानता है कि जीवन इन दोनों अन्तों के बीच से होकर चलता है। इसलिए

उसका अनल भी इन दोनों अन्तों के बीच से होकर ही बढ़ सकती है। कवि की यह दृष्टि **सुकन्या** के माध्यम से भी अधिक व्यक्त हुई है। **औशीनरी** आयु को पुत्र मानती है, परन्तु इस पर भी उसके आलिंगन से झिझकती है। वह दुखी है कि उसके पति ने उसे उपेक्षणीय समझा। वह इस बात पर भी दुखी है कि उर्वशी के संभोग के लिए उन्हें घर से भागना क्यों पड़ा ? वह तो उस स्थिति में भी उनका साथ निभाने को उत्सुक थी। परन्तु पुरूरवा में जैसे यह साहस ही नहीं था। इसीलिए औशीनरी का दुख एक सीमा तक वास्तविक हो उठता है। **सौन्दर्य और आसक्ति को अलग-अलग समझना भी जीवन की एक कमज़ोरी है। कर्तव्य और प्रेम में अन्तर मान बैठना भी, उसी प्रकार की, कमज़ोरी है।** राजा में औशीनरी के प्रति कर्तव्य-बुद्धि है और उर्वशी के प्रति वह प्रेम की भावना से झुका हुआ है। दोनों में वह समन्वय-सूत्र नहीं खोज पाता। परिणाम यह कि दोनों को ही भोग का पूरा अंश नहीं मिल पाता। मज़ा यह कि स्वयं पुरूरवा उर्वशी से भी एक स्वर्गीय प्रेम की अपेक्षा रखता है। उर्वशी जानती है कि उसके स्वप्न के प्रेम पर तो देवता भी आचरण नहीं करते। इसीलिए वह जीवन के समन्वित दर्शन की ओर उसका ध्यान बराबर खींचती है। उसकी दृष्टि में धरती का मांसल, तप्त और करुण जीवन ही सच्चा स्वर्गीय जीवन है।

इस प्रकार इन तीन विविध स्थितियों के बीच **सुकन्या** जैसे एक समझौते का मार्ग खोज कर नारी को उसका युगधर्म समझा देती है। वह जानती है कि पुरुष कर्म करता है और नारी समर्पण करती है। परन्तु, इतने में ही जीवन का सत्य नहीं है। **प्रसाद की भाँति दिनकर का भी विश्वास है कि नारी ही शक्ति और ममता का बल है।** जीवन की गति जब-जब रुकती है, तब-तब नारी ही उसे बढ़ाने की सामर्थ्य रखती है। परन्तु, स्वयं सुकन्या भी भारतीय नारी का आदर्श रूप ही है। इस पर भी वह भविष्य के मानव के लिए एक सुखद कल्पना और स्वप्न सामने रखती है। उसके शब्दों में :

किन्तु, कभी यदि हमें मिला निर्बाध सुयोग सृजन का,
हम हो कर निष्पक्ष सुकोमल ऐसा पुरुष रचेंगे,
कोलाहल, कर्कश निनाद में भी जो श्रवण करेगा।
कातर, मौन पुकार दूर पर खड़ी हुई करुणा की;
और बिना ही कहे समझ लेगा, आँखों-आँखों में,
मूक व्यथा की कसक, आँसुओं की निस्तब्ध गिरा को।

पुरुष का यह आदर्श चित्र 'कामायनी' के आदर्श से भिन्न है। यद्यपि समन्वय की भावना दोनों जगह उपस्थित है। फिर भी, प्रसाद आदर्श की जिस सीमा पर बढ़ जाते हैं, वहां तक दिनकर नहीं पहुँचते। दिनकर जीवन की वास्तविकता को देखकर, उसमें उलझने-सुलझने वाले पुरुष की कामना करते हैं। नारी को भी वे केवल समर्पण-शीला नहीं मानते, बल्कि उसे वे पुरुष की शक्ति भी स्वीकार करते हैं। ये दोनों ही बातें उन्हें प्रसाद से अभिन्न भी सिद्ध करती हैं, और भिन्न भी। दोनों के कहने के ढंग में कुछ अन्तर है।

नारी माया ममता का बल,
वह शक्तिमयी छाया शीतल। (कामायनी)

और, अटक गयी हो तरी मनुज की किसी घाट-अवघट में,
तो छिगुनी की शक्ति लगा नारी फिर उसे चला दे;
और लुप्त हो जाय पुनः आतप, प्रकाश, हलचल से। (उर्वशी)

अन्तर यही है कि दिनकर जब भी कहते हैं, तब उसमें **ताप, अनल** और **प्रकाश** आदि की चर्चा होती है। प्रसाद **'प्रेम-ज्योति विमला'** की चर्चा करते हैं। उनके वर्णन में शक्ति की उपासना अपेक्षाकृत कम है। वे भी पौरुष के ही उपासक माने गये हैं, पर तो भी उनमें उसकी आवृत्ति और पुकार उतनी अधिक नहीं है। यह अन्तर उनके स्वभाव के अन्तर के कारण हो सकता है।

विषय-विभाजन—'उर्वशी' काव्य पाँच अंकों में बँटा हुआ एक नाटच-महाकाव्य है। नाट्य-काव्य के रूप में इसकी रचना का एकमात्र कारण

'विक्रमोर्वशीय' का नाटक के रूप में होना दीखता है। 'दिनकर' की भावना सामान्य महाकाव्य में भी प्रकट हो सकती थी। और तब शायद कुछ स्थानों पर उनकी वर्णन-शक्ति का कुछ और भी चमत्कार दिखाई देता। परन्तु इसे नाट्य-काव्य के रूप में रच कर भी उन्होंने कोई त्रुटि नहीं की है। क्योंकि, इस प्रकार वे विषय-वस्तु का विभाजन अधिक ठीक रूप में कर पाये हैं। **प्रथम अंक** में भूमिका-भाग आता है, जिसमें कवि ने कुछ अप्सराओं की वातचीत के द्वारा उर्वशी का पृथ्वी की ओर आना और पुरूरवा के प्रति उसका अमिट प्यार सूचित किया है। यहीं पर वह पुरूरवा और औशीनरी की दशा को भी चित्रित करा देता है। **चित्रलेखा** के ये शब्द सब बात को स्पष्ट कर देते हैं।

धुआँ नहीं, ज्वाला देखी है, ताप उभयदिक् सम है,
जो अमर्त्य की आग, मर्त्य की जलन न उससे कम है।

परन्तु, रानी की दशा भी कम मर्मान्तक नहीं है :

'कुल-वामा क्या करे, किन्तु, जब यह विपत्ति आ जाये ?
प्रिय की प्रीति-हेतु रानी कोई व्रत साध रही है।

द्वितीय अंक में कथा का आरम्भ होता है। पुरूरवा और उर्वशी जा चुके हैं। औशीनरी को यह पता चला और वह व्यथित हुई। उसे अपने त्याग और बलिदान पर विश्वास है। वह नहीं समझ पाती कि उर्वशी भी कभी एक सामान्य स्त्री की भाँति प्रेम कर सकती है। उसकी दृष्टि में अप्सराओं का काम केवल लुभाना और छलनामात्र है। यह सब बात उसकी दासियों के मुख से भी प्रकट होती है। महाराज की उर्वशी के प्रति व्यथा भी उसे सताती है और सामान्य स्त्रियों की भाँति वह भी अपने जीवन को धिक्कारने लगती है। उसका धिक्कार उर्वशी के लिए भी कम नहीं है।

हाय, मरण तक जी कर मुझको हालाहल पीना है।
जाने, इस गणिका का मैंने कब क्या अहित किया था,
कब, किस पूर्व जन्म में उसका क्या सुख छीन लिया था,

जिसके कारण भ्रमा हमारे महाराज की मति को,
छीन ले गई अधम पापिनी मुझ से मेरे पति को।

उसे यह भी सन्देह है कि महाराज उसके साथ भी पूरा प्रेम निभा सकेंगे या नहीं ? वह जानती है कि दूर के ढोल ही सुहावने होते हैं। उसके शब्दों में :

कौन कहे ? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है,
जो अलभ्य, जो दूर, उसी को अधिक चाहता मन है।

तभी उसे लौटकर कंचुकी सब हालचाल बताता है। वह उन सैनिकों से मिलकर आया है, जो राजा को छोड़ने गये थे। उसके शब्दों को सुनकर रानी को पता चलता है कि वे पुत्र-कामना से ही गये हैं। और, वह इसमें ही तनिक सन्तोष खोज लेती है। 'साकेत' की उर्मिला की भाँति वह भी कह उठती है,

पुत्र पाने के लिए विहरा करें वे कुंज-वन में,
और, मैं आराधना करती रहूं सूने भवन में।

तीसरा अंक सबसे अधिक लम्बा है। गन्धमादन पर्वत पर पुरूरवा और उर्वशी के सम्वाद के रूप में इसमें कवि अपनी सम्पूर्ण विचारधारा को रख देता है। पुरूरवा भारतीय सांस्कृतिक आदर्शों का प्रतीक बनकर अपनी सारी बात कहता है। और, उर्वशी उसे बताती है कि उसका वह सब स्वप्न या आदर्श एकांगी और झूठा है; क्योंकि उसमें जीवन के सत्य को देखा नहीं गया है। पुरूरवा भी अपने भीतर की आग को जानता है। पर, उसके शब्दों में,

प्राण की चिर-संगिनी यह वह्नि,
इसको साथ लेकर
भूमि से आकाश तक चलते रहो,
मर्त्य नर का भाग्य !
जब तक प्रेम की धारा न मिलती,
आप अपनी आग में जलते रहो।

यहां उर्वशी कवि के सम्पूर्ण जीवन-दर्शन को इस प्रकार रख देती है,

किल्विष के मल का लेश नहीं,
यह शिखा शुभ्र पावक केवल,
जो किये जा रहा तुझे दग्ध
कर क्षण-क्षण और अधिक उज्ज्वल।

वह कवि के शब्दों में ही कह उठती है,

बुझ जाय मृत्ति का अनल,
स्वर्गपुर का तू इतना ध्यान न कर;
जो तुझे दीप्ति से सजती है,
उस ज्वाला का अपमान न कर।

पुरूरवा स्वयं को मँझधार में फंसा हुआ अनुभव करता है—

द्वन्द्व शूलते जिसे, सत्य ही, वह जन अभी मनुज है।

वह योग-मार्ग की चर्चा करता है, और जन्म-जन्मान्तर में भी अपने प्रेम को अमर रखने की बात करता है। उर्वशी उसे उसका भ्रम समझाती है। हम ईश्वर को न जाने क्या मान बैठते हैं? जैसे वह प्रकृति से भिन्न और उसका प्रतियोगी या प्रतिस्पर्धी कोई तत्व हो। और, हम उस तक बढ़ना चाहते हैं। कवि के भाव का प्रतिनिधित्व करती हुई उर्वशी कहती है—

भ्रान्ति नहीं, अनुभूति; जिसे ईश्वर हम सब कहते हैं,
शत्रु प्रकृति का नहीं, न उसका प्रतियोगी, प्रतिबल है।

वह आधुनिक नारी की भाँति नर-नारी सम्बन्ध के विषय में नये विचार प्रस्तुत करती है। यह कवि के ही विचार में—

किसने कहा तुम्हें, जो नारी नर को जान चुकी है,
उसके लिए अलभ्य ज्ञान हो गया परम सत्ता का;
और पुरुष जो आलिंगन में बाँध चुका रमणी को,
देश-काल को भेद गगन में उठने योग्य नहीं है?

संक्षेप में, कवि का जीवन-दर्शन यही है: **जो व्यक्ति जीवन के**

सत्य से भागते हैं, उनसे जीवन का सत्य भी दूर भागता है। प्रेम किसी एक शरीर का बन्धन नहीं है, और प्रेम को पाना किसी एक शरीर की आसक्ति नहीं है। वह तो एक भावना है, जो हृदय में जगती है, और जिसे कभी भी, कहीं भी, किसी से भी पाया जा सकता है। उससे भागने वाला सारे जीवन प्रतीक्षा करता रहे, न वह प्रेम को पा सकता है, और न प्रेम उस तक आता है।

> मैं भूत, भविष्य, वर्तमान की कृत्रिम बाधा से विमुक्त;
> मैं विश्वप्रिया।
> तुम पन्थ जोहते रहो,
> अचानक किसी रात मैं आऊँगी।

इस प्रकार इस अंक में कवि ने एक जीवन-दृष्टि प्रस्तुत की है। यह अंक ही इस महाकाव्य का प्राण कहा जा सकता है।

चतुर्थ अंक महर्षि च्यवन के आश्रम में बीता है। सुकन्या च्यवन की पत्नी है। वह स्वयं किशोर युवती है, और उसने बूढ़े पति के साथ विवाह कर उसे भी यौवन-दान दिया है। यह बात स्वयं में एक प्रतीक है : मानो प्रेम स्वयं ही यौवन को जुटा लेता है। प्रम के लिए किसी प्रकार की शारीरिक सज्जा, आयु, या कोई और आवश्यकता नहीं होती। उर्वशी भी इसी मत की है। सुकन्या ने यह बात चित्रलेखा को भी समझाई है। महाराज पुरूरवा उर्वशी से यज्ञ के लिए अनुमति माँग कर गए हैं। यह यज्ञ सम्भवतः औशीनरी के व्रत के बाद होना था, और वे उसी में संलग्न थे। उर्वशी इधर च्यवन के आश्रम में अपनी सन्तान को ले आयी। परन्तु यज्ञ समाप्त होते ही महाराज के मन में फिर से उर्वशी की खोज जगेगी, और वे उसके लिए व्यथित होंगे। इसलिए अपने पुत्र को छोड़ कर उर्वशी को फिर से वहीं जाना होगा। उसने महाराज से पुत्र की उत्पत्ति की बात छिपाए रखी थी। और, वह अब भी नहीं चाहती कि बता सके। कारण था भरत का शाप। **'अभिज्ञान शाकुन्तल'** के **दुर्वासा-शाप** की भांति, यह शाप भी भयंकर था। 'पति का प्यार पत्नी

या पुत्र दोनों में से किसी एक को ही मिलेगा '— यह बात बहुत उलझनभरी थी। दूसरे शब्दों में, उर्वशी भी पुत्र या पति दोनों में से किसी एक को ही पा सकती थी। इसलिए उर्वशी पति के घर लौट जाती है। पुत्र का आकर्षण उसे भी अपरिमित है। परन्तु, अपने प्रेम और महाराज के आकर्षण को भी वह भुला नहीं पाती।

पाँचवां अंक कथा का उपसंहार है। उर्वशी सभा में बैठी है। वर्षों बीत चुके हैं। पुरुरवा अपने स्वप्न की चर्चा करते हैं। उसी समय विश्वमना नाम के ज्योतिषी से इस स्वप्न का परिणाम पूछा जाता है। उसने सत्य बात कह दी, और आने वाली विपदा का स्वरूप भी बता दिया। उसके अनुसार राजा सांझ होने से पहले ही पुत्र को राजपाट सौंपकर वन चले जायेंगे। पुत्र का किसी को भी पता नहीं था। केवल उर्वशी तक ही यह रहस्य सीमित था। इसी बीच उसके आयु नामक पुत्र को पालने वाली महर्षि च्यवन की पत्नी सुकन्या, उसे लेकर, दरबार में आ जाती है। वह १६ वर्ष का हो चुका है। १६ वर्ष पूर्व इधर महाराज पुत्रेष्टि यज्ञ कर रहे थे और, उधर, ऋषि-आश्रम में उर्वशी ने उसे जन्म दिया था। रहस्योद्‌घाटन होने पर पुरूरवा आश्चर्य में और आनन्द में डूब जाते हैं। उर्वशी उन्हें सम्पूर्ण रहस्य बता देती है। परन्तु, शाप के अनुसार, उर्वशी बात सुनाते ही अदृश्य हो जाती है। पुरूरवा इस वियोग को नहीं सह सकते। पहले तो क्रोध में आकर वे देवलोक को ही मिटाने के लिए सजग हो जाते हैं (यद्यपि यह उनका असन्तुलन है), परन्तु महामात्य के समझाने से, और आकाशवाणी को सुनकर, वे अन्ततः अपना मार्ग पलट लेते हैं। उसी क्षण वे निश्चय कर लेते हैं कि वे भी वन में निकल जायेंगे, और आयु को महाराज बना देंगे। तब वे आयु के सिर पर मुकुट रख कर राज्याभिषेक की घोषणा करते हैं, और नये सम्राट् की जय बुलाकर स्वयं उसी क्षण निकल जाने की आज्ञा माँगते हैं। वे उसी समय चले भी जाते हैं। उनके जाते ही औशीनरी आती है, और सभासद् उसे राजमाता कहकर पुकारते हैं। आयु को सम्राट् रूप में देख

कर वे रहस्य समझ जाती हैं, और अपने इस नये पद पर गर्व अनुभव करती हैं। उन्हें एक ओर पति की विदाई का दुख है और, दूसरी ओर, पुत्ररूप में अपनी नयी उपलब्धि का गर्व है। परन्तु, अपने दुख पर उनके आँसू अचानक ही बह पड़ते हैं। तभी आयु अपनी ओर उनका ध्यान खींचता है :

मां ! हताश मत हो, भविष्य वह चाहे कहीं छिपा हो,
मैं आया हूं अग्रदूत बन उसी स्वर्ण-जीवन का।

कथा : सन्देश—इस प्रकार पाँच अंकों में बँटी यह कथा कथामात्र ही नहीं है, बल्कि पुरूरवा के चित्र को सामने से हटाकर यह आयु के चित्र को सामने प्रस्तुत करती है। निश्चय ही कवि ने इसके माध्यम से एक सन्देश दिया है। वह जीवन के एकान्तों की अपेक्षा उसके भोग और आनन्द को प्राप्त करना अधिक अच्छा मानता है। जीवन से भागने का ही परिणाम औशीनरी का आत्मसंयम और प्रजा के दुख हो सकते हैं। उसका परिणाम ही है महाराज का स्वयं भाग जाना। इसलिए कवि उस मार्ग को त्याज्य ही इंगित करता है। अन्ततः वह औशीनरी को 'मातृत्व' का गौरव देकर जीवन की ओर ले आता है। यही रूप उसे काम्य है।

अब इस काव्य के महाकाव्यत्व, नाट्यौचित्य, आदि पर भी विचार करना अपेक्षित है। कवि के 'कुरुक्षेत्र' की भांति यह भी विचार-प्रधान काव्य है। पर, इस पर भी इसमें कथा कुछ अधिक विस्तृत है, और वह बंध कर चली है। कथा-भाग की तृप्ति के साथ ही कवि ने जीवन की विवेचना भी अधिक प्रौढ़ रूप में की है।

काव्य रूप : महाकाव्यत्व—'उर्वशी' के काव्यरूप के विषय में इतना तो कहा ही जा चुका है कि यह महाकाव्य होकर भी एक सर्वांगपूर्ण नाट्य-काव्य है। नाटक के लिए किसी प्रस्तावना की आवश्यकता होती है, जिसे **प्रवेशक** या इसी प्रकार के किसी अन्य नाम से कहा जा सकता है। यहां भी प्रथम अंक इसी **प्रवेशक** या **भूमिका** के रूप में आया है। सूत्रधार और नटी बाकायदा, नाटक की भांति ही, भूमिका

बनाकर चले जाते हैं और वहीं पर, कथा के आरम्भ की दृष्टि से, बीज-वपन के लिए मेनका आदि अप्सराएं आ जाती हैं। यहां पर सहजन्या और रम्भा आदि उस कथा-सूत्र को ही नहीं समझाती, बल्कि उस विषय वस्तु को भी संकेतित कर देती है, जिसको अगली सारी कथा में बढ़ाया गया है। **इस प्रकार नाटक की दृष्टि से 'आरम्भ' और 'बीज' की स्थिति प्रथम अंक में आ जाती है।**

दूसरे अंक में नाटक की ही भांति कथा एक विस्फोट से आरम्भ होती है। पुरूरवा उर्वशी के साथ निकल गए हैं। महारानी के इसी प्रश्न के साथ इस अंक का प्रारम्भ होता है। यह अंक **प्रयत्न** नाम की कार्यावस्था का है। यहीं पर **बिन्दु** के भी दर्शन हो जाते है। क्योंकि, यहां कंचुकी इस बात की सूचना देता है कि महाराज वन में पहुंच चुके हैं और उन्होंने महारानी के नाम एक सन्देश भेजा है। वह पुत्र की कामना कर रहे हैं, और इसीलिए उर्वशी को लेकर बन गए हैं। वे चाहते हैं कि ईश्वर के आराधन के साथ-साथ वे अपनी पुत्र की कामना को पाने में सफल हो सकें। यही इस कथा का **बिन्दु** है। **भोग** और **आराधना** दोनों विरोधी बातें दिखाई देती हैं, पर कवि इन्हें एक संबंध-सूत्र के द्वारा बाँधना चाहता है। सारी कथा में इसी सम्बन्ध सूत्र को निभाया गया है। 'आयु' के रूप में पुत्र मिल भी जाता है—यह इसका **भोग पक्ष** है। पर, राजा को पुत्र-सुख पाने का अधिकार भी नहीं है, और सब जाल से छूटकर उसे वन ही जाना पड़ता है। यह **आराधना पक्ष** है। इस प्रकार **कर्म और धर्म का समन्वय** इस काव्य का मूल आधार हो उठता है। और, इसके सूत्र के फैलते हैं, इसी दूसरे अंक में आये, महाराजा के संदेश से।

तीसरे अंक का आरम्भ गंधमादन पर्वत पर महाराज और उर्वशी के निवास से होता है। यह प्राप्त्याशा की अवस्था है। यहां वास्तविक वक्तव्य या कथा-सूत्र की उत्सुकता पूरी हो जाती है। इस काव्य का यह सबसे बड़ा अंक है। यह काव्य केवल कथा-काव्य नहीं है, बल्कि इसमें

विचार-तत्व का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसलिए जब कवि कथा की गहराइयों में उतर कर उन दोनों के विलास और सम्बन्ध को विवेचित करता है, तब साथ ही साथ धर्म और कर्म, अथवा जीवन और अध्यात्म के समन्वय को भी दिखाना उसके लिए आवश्यक हो जाता है। जीवन-सूत्र **'अनल'** के विषय में भी कवि यहीं पर अपनी धारणा स्पष्ट करता है। सुर और नर जिन भावनाओं के प्रतीक हैं, उनका विवेचन भी इसी में हुआ है। चौथे अंक की कथा से पता चलता है कि तृतीय अंक में ही जीवन का रहस्य और पुत्रोत्पत्ति का बीज छिपा पड़ा है। यहां हमें **प्रकरी** जैसी किसी कथा के सूत्र नहीं मिलते। अगर आवश्यकता पूर्ति के लिए रीत को पूरा करना ही हो, तो कहा जा सकता है कि इस अंक में ही भावी वियोग का सूत्र और बीज के व्यवधान का सूत्र भी छिपा हुआ है। इसे ही हम **प्रकरी** भी कह सकते हैं।

चतुर्थ अंक नियताप्ति की अवस्था का है। इसमें पुत्र प्राप्त हो चुका है। उर्वशी प्रिय से मिलने के लिए चल देती है, और सुकन्या उसे यथा-वसर पुत्र को लौटा देने का विश्वास दिलाती है। वास्तविक बात यह है कि यह पुत्र **वर** और **शाप** दोनों ही रूपों में सामने आया है। चतुर्थ अंक में ही उसके ये दोनों रूप अपना पूरा आभास दे देते हैं। प्रतिक्षण उससे यही संकेत मिलता है कि उसके पिता के पास पहुँचते ही कथासिद्धि हो जाएगी।

पंचम अंक कथासिद्धि का अंक है। इसमें फलागम या फल-प्राप्ति की स्थिति मिलती है। **आयु** अपने पिता से मिलता है, परन्तु साथ ही उनका सदा के लिए वियोग भी हो जाता है। माता और पिता के प्रथम दर्शन के साथ ही, किशोरावस्था की देहली पर कदम रखने वाला, आयु उनके सुख को बिना पाए ही 'सम्राट्' पद का अधिकारी घोषित कर दिया जाता है। पुरूरवा को भी अपनी कामना का पूरा फल मिल गया। पर, उसके हाथ से उस कामना का मजा निकल गया। **कर्म** पूरा हुआ, पर **भोग** की वासना उस प्रकार बढ़ी न रह सकी।

इस प्रकार यह काव्य 'नाटक' के रूप में पूरी तरह विभक्त और सज्जित है।

पर, प्रश्न यह है कि इसे **नाट्य** माना जाए या **काव्य ? नाट्य-काव्य** कह कर हम इसे काव्य की श्रेणी में मानने को उद्यत हो जाते हैं। परन्तु नाट्य-काव्य वस्तुतः नाटक का ही एक रूप है। उसे महाकाव्य या प्रबंध-काव्य के अन्तर्गत इसलिए भी नहीं रखा जा सकता कि उसमें कवि को वर्णन की पूरी सुविधा नहीं होती।

पर इस काव्य को हर आलोचक ने **महाकाव्य** की कोटि में रखा है। यह मत तब तक ही अजीब लगता है, जब तक हम केवल काव्य के बाहरी शरीर को लेकर विचारने बढ़ते हैं। पर, जब हम नाटक को भी **काव्यांग** मान कर बढ़ते हैं, और काव्यों में नाटक को रमणीय मानकर चलते हैं, तब नाट्य-काव्य होने पर भी इसकी उपयोगिता और अस्तित्व महाकाव्य के रूप में ही स्वीकृत करना आवश्यक हो जाता है। यह बात ध्यान रखने योग्य है कि काव्यरूप में ऐसी रचनाओं को न मानने का एक कारण इनमें प्रबंधत्व की कमी होती है। **प्रबन्ध-काव्य** में कवि को कुछ अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती है। 'नाट्य-काव्य' में वह कुछ अधिक बँधा रहता है। इस प्रकार हम जिसे प्रवन्ध की कमी कहते हैं, वही कवि की परीक्षा-स्थली बन जाती है।

और फिर, प्रबन्ध का अर्थ केवल कवि द्वारा स्वतन्त्र वर्णनों का होना ही तो नहीं है। यदि नाटक में कथा-सूत्र बिना टूटे चलता है, तब भी उसे '**महाकाव्य**' का पद मिल सकता है। **वस्तुतः महाकाव्य में काव्य का महत्व और उसका गौरव अधिक विवेचनीय होना चाहिए, न कि उसका आकार-प्रकार**। इस दृष्टि से विचार करने पर यह काव्य हमें **महाकाव्य** के समीप ही आता दिखाई देगा। जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, इस काव्य में कथावस्तु और उद्देश्य दोनों ही मुख्य रहे हैं।

नाटक होकर भी उसे पूरी तरह **रूपक या समासोक्ति** नहीं कहा जा सकता। इसमें कथा का अपना महत्त्व कुछ अधिक है। फिर सभी पात्र

प्रतिनिधि पात्र भी नहीं हैं। इसलिए इसकी विवेचना में इस पक्ष को भी स्मरण रखना चाहिए । 'कामायनी' से भिन्न होकर भी, यह उसी तरह का महाकाव्य है। दोनों के रूप में, कामायनी के रूपकत्व के कारण, कुछ अन्तर आ जाता है। पर, तो भी दोनों मानव-जीवन के संबद्ध विषय को लेकर ही विवेचना में अग्रसर होते हैं।

इसलिए, शर्तों के चक्कर में न जा कर, हमें विषय और उसके निर्वाह के आधार पर इस काव्य की परीक्षा करनी चाहिए। तब हम पाएंगे कि यह काव्य आधुनिक ढंग का और आधुनिक जीवन का, सही अर्थों में, **महाकाव्य** है।

नाट्यौचित्य—नाट्य-काव्य के रूप में इसका मूल्यांकन करने के बाद भी नाट्यौचित्य की बात अधूरी रह जाती है। इसके संपूर्ण दृश्य बहुत आसानी से अभिनीत किए जा सकते हैं। उनमें किसी प्रकार की कठिनता नहीं आती। विशेषकर इस प्रकार के गीतिनाट्यों में भाव-पूर्ण मुद्राओं के द्वारा ही बहुत कुछ कह दिया जाता है। पूर्णतर और विस्तारमय होने के कारण इसमें सभी बातें मुद्राओं से नहीं कहनी पड़तीं। इसलिए आधुनिक 'बैले' की अपेक्षा यह भिन्न है। यहां सामान्य दृश्यों के द्वारा भी पूर्ण सन्देश दिया जा सकता है। अभिनय पूरी तरह किया जा सकता है।

प्रबन्धत्त्व—इस विषय की कुछ विवेचना ऊपर की जा चुकी है। यहां कवि ने सीधे रूप में खुलकर कुछ भी नहीं कहा है। पर, तो भी वह सभी आवश्यक बातें पात्रों के मुख से कहलवा देता है। यहां तक कि उसने प्रकृति का भी चित्रण पात्रों के मुख से करवा दिया है। समय और प्रसंग की सूचना के अतिरिक्त, विषय की अपनी विवेचना भी कवि पात्रों के मुख से ही देता गया है। इस दृष्टि से तीसरा अंक विचारने योग्य है। अतः केवल इस आधार पर कि कवि ने कथा-सूत्र का निर्वाह स्वयं नहीं किया है, हम इस काव्य के प्रबंधत्त्व को दूषित मानने का आग्रह न करें, तो अधिक उचित होगा।

जीवन दर्शन—कवि के जीवन-दर्शन पर विचार करते हुए हम

इस काव्य को उसकी संपूर्ण काव्य-धारा से अलग नहीं ले सकते। आरम्भ में हमने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि कवि की संपूर्ण कृतियों में 'अनल' ही एकमात्र केन्द्र-बिन्दु बन कर आया है। यहां पर भी यही केन्द्र-बिन्दु रहा है। उर्वशी इसी अनल को जगाना चाहती है, और पुरूरवा इसी जागी हुई **अनल** को उच्च से उच्चतर स्थिति की ओर ले जाना चाहता है। इस प्रकार अनल का सूत्र सारी कथा वस्तु में एक सा ही चल रहा है। कवि इसके प्रति सदा प्रबुद्ध रहा है। वह जीवन और धर्म दोनों में ही इस अनल की ज्योति और ज्वाला को जगता देखना चाहता है। **अनल का दाह भी उसे पसन्द है और उसका प्रकाश भी! दाह के बिना प्रकाश की सत्ता नहीं, और प्रकाश के बिना दाह व्यर्थ है। जीवन केवल उत्तेजना या वासना के ज्वार का नाम ही नहीं है। वह तो सागर का विस्तार भी है, उसकी गहराई भी, उसका ज्वार भी, और उस सा शान्त भी!** इसलिए अनल के दोनों ही रूप जीवन की वास्तविकता के प्रतिनिधि हैं। कवि ने इस काव्य में इसी अनल को जीवन का एकमात्र आधार स्वीकार किया है। नर और नारी के विवेचित संबंध भी इसी सूत्र पर टिके हुए हैं।

उद्देश्य—ऊपर इस विषय की कुछ चर्चा की जा चुकी है। यह काव्य उद्देश्य में 'कामायनी' से मिलता-जुलता है। 'कामायनी' में मानव के विकास को, और उसके जीवन के आदर्शों को, अधिक फैलाया गया है। उस पर कवि ने अपनी दृष्टि स्पष्ट की है। यहां ऐसी बात पूरी तो अनुकृत नहीं हुई, पर तो भी मानव जीवन का ही विकास-सम्बन्धी एक दूसरा पहलू इसमें स्पष्ट हुआ है। नर और नारी के बीच का संबंध दोनों ही काव्यों में पूरी तरह विवेचित हुआ है। अन्तर यही है कि **'कामायनी' यथार्थ से बढ़कर आदर्श की ओर चली जाती है, जबकि यह काव्य यथार्थ पर ही टिका रहा है।** कह सकते हैं कि **यहां कवि आदर्श से यथार्थ की ओर मुड़ आया है।** भोग और त्याग की बात ऊपर कही गई है। आयु के रूप में **भोग** का परिणाम सामने आता है, पर **त्याग** द्वारा

ही उसे पाया जा सकता है। इसीलिए उर्वशी और पुरूरवा अपनी संतान को सामने पाकर, एक ओर जहां जीवन को सफल मानते हैं, वहां, दूसरी ओर, राज्य का त्याग करके उन्हें राज्य की सीमा से दूर भी चले जाना पड़ता है। हम शाप की बात को दैवीय मानकर उस पर आपत्ति कर सकते हैं। पर, यह बात आपत्ति के योग्य है नहीं। कवि इस बात से जीवन का वह रहस्य स्पष्ट करना चाहता है, जिसे भारतीय संस्कृति अनादि-काल से स्पष्ट करती रही है। धरती को 'वीरभोग्या' मानने वाली संस्कृति भोग और त्याग के समन्वय की बात को भी मानती है। यह बात '**कामायनी**' में भी स्पष्ट हुई है। श्रद्धा ने कहा है।

दो लो प्रसन्न यह स्पष्ट अंक।

इसका अर्थ भी यही है कि भोग से पहले त्याग आवश्यक है। वह मनु को समझाती है कि बंधन-मुक्ति का एकमात्र उपाय, उसके बदले में कुछ देना है। उसे देने में आनाकानी किसी भी प्रकार उचित नहीं कही जा सकती। अन्तर यही है कि 'दिनकर' उर्वशी में एक स्वाभाविक झिझक को भी ला दिखाते हैं। वह अपने पति को इस बात के लिए पहले से तैयार नहीं करती। स्वयं जानकर भी वह घबराती है। इस दृष्टि से पुरूरवा यहां मनु की अपेक्षा अधिक सजग कहा जा सकता है कि वह बिना किसी पूर्व सूचना के भी, समय आने पर सर्वस्व निछावर करने को तैयार रहता है। मनु में इसकी अपेक्षा कुछ अधिक झिझक पाई जाती है। उर्वशी, श्रद्धा की भांति, एकदम आदर्श नारी नहीं है। पुत्र और पति के प्रति उसे कुछ अधिक मोह है। वह दोनों को ही अपने से अलग करना नहीं चाहती। पर, चुनाव का मौका आने पर, वह कठिन से कठिन त्याग के लिए भी उत्सुक ही उठती है।

इसलिए इस कथा का उद्देश्य नर-नारी सम्बन्ध को घोषित करना उतना अधिक नहीं है, जितना कि इस बात को बताना कि **मनुष्य को कुछ पाने से पहले खोने के लिए तैयार रहना चाहिए।**

नाटक की दृष्टि से इसमें आयु के मिलने को **कार्य** कहा जा सकता

है। महाकाव्य की दृष्टि से आयु का मिलन और माता-पिता से जुदाई— दोनों ही—अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं, और एक-दूसरे से सम्बद्ध है। वास्तव में नाटक की दृष्टि से भी इन दोनों को ही **कार्य** या **फल** माना जाना चाहिए।

इसके साथ ही नर-नारी के बीच का शाश्वत सम्बन्ध तथा कुछ और वातें भी यहां विवेचित हुई हैं। वर्तमान युग में दो पत्नियों की बात ले बैठना, और उसका औचित्य ठहराना, कुछ अजव लग सकता है। पर, यह अद्‌भुत साम्य है कि **कामायनी** और **उर्वशी** दोनों ही महा-काव्यों में इसी प्रकार की बात सामने आई है। यह इस कारण नहीं हुआ कि कवि अपने युग के लिए कोई ग़लत आदर्श रचना चाहते हैं। बल्कि, यह इस कारण हुआ है कि नारी जीवन की विवेचना में जिन दो पक्षों की आवश्यकता होती है, उनका प्रतिनिधित्व करने के लिए दो पात्रों की कल्पना अधिक सुखद हो जाती है। इसलिए इस बात को युग-विरुद्ध ठहराना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता।

शैली और भाषा—'दिनकर' का यह काव्य भाषा की दृष्टि से भी अधिक विचारणीय बन जाता है। 'दिनकर' को **जनकवि** मानकर भी आलोचकों ने उसकी भाषा को इससे पूर्व के सभी काव्यों में बहुत सरल स्वीकार किया है। यहां पर वे भाषा को कुछ अधिक कठिन मानते हैं। यह बात एक विदेशी आलोचक ने भी कही है। पर, प्रश्न वही पुराना है: भाषा की सरलता या कठिनता का मापदंड क्या स्वीकार किया जाए? किसी भी काव्य का विषय ही उसकी भाषा का रूप निर्धारण करने वाला होता है। दिनकर के अन्य बहुत से काव्यों में विषय जन-जीवन के अधिक निकट और दैनिक संघर्ष का रहा है। स्वभावतः उनके पूर्ववर्ती काव्यों में भाषा जन-जीवन के अधिक निकट रही है। पर, इस काव्य में कवि जीवन का गहरा दार्शनिक विवेचन करने उतरा है। इस-लिए यहां भाषा कुछ अधिक गम्भीर हो जानी स्वाभाविक थी।

भाषा के साथ ही लोकोक्तियों और अलंकारों की बात भी आ जाती

है। कवि इन दोनों ही बातों में चूका नहीं है। पर, उसने अपनी अभिधात्मक पुरानी परम्परा को भी छोड़ा नहीं है। वह हर बात को पूरी तरह कहते हुए चलता है। अलंकार स्वयं ही, काव्य के स्वाभाविक अंग बनकर, आ जाते हैं। **धूम-तरंगों पर चढ़कर नाचती हुई ज्वाला-सी**— इस अकेली पंक्ति में **रूपक** और **उपमा** दोनों का ही चमत्कार देखने के योग्य है। 'चढ़कर' में लक्षणा का चमत्कार भी है। वास्तव में कवि ध्वनिपरक भाषा लिखने में बहुत ही अधिक सिद्ध-हस्त है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भाषा की एक विशेषता **'विशेषणपरक'** होने में मानी है। यहां कवि उतने विशेषण तो नहीं देता, पर, फिर भी विशेषणात्मक वाक्यों के द्वारा अपनी बात को पूरी तरह स्पष्ट अवश्य कर देता है। उदाहरण के लिए ये पंक्तियां उचित होंगी—

ये लोचन, जो किसी अन्य जग के नभ के दर्पण हैं।...
ये कपोल, जिनकी द्युति में तैरती किरण उषा की।

इन दोनों पंक्तियों में कवि ने विशेषणात्मक वाक्यांतर प्रयोग किए हैं। ये दोनों ही वाक्य हमारी बात को पूरी तरह स्पष्ट कर देंगे। इस प्रकार के प्रयोगों के द्वारा कवि कुछ अन्य विस्तारों में जाने से भी बच गया है।

इसके अतिरिक्त कवि छन्दों के चुनाव के विषय में भी अधिक सतर्क रहा है। उसने हर अंक में तीन के लगभग छंद प्रयोग किए हैं। कई बार उसने उन्हीं छंदों को एक या अधिक स्थानों पर भी प्रयोग किया है। इस प्रकार छंद बदलने की दृष्टि से कई बार एक ही अंक में चार या पांच अन्तर आ गए हैं। यह सब बात कुछ अजब लग सकती है।

इसके साथ ही अजब लगने वाली यह भी है कि कवि ने कुछ स्थानों पर **गद्यगीत-शैली** का भी प्रयोग किया है। इसे हम **मुक्त-छंद-शैली** कहें तो अधिक उचित होगा। ऐसे स्थानों पर कवि अत्यन्त सफल रहा है। पर, तो भी छंदों भरे काव्यों में यह बात कुछ अखरती-सी लग सकती है। छंदों के चुनाव में कवि ने कुछ स्थानों पर इससे बिल्कुल

उलटी बात भी दिखाई है। वह संस्कृत और प्राचीन हिन्दी-काव्य के कुछ ऐसे छंदों को भी प्रयोग करने में सफल हुआ है, जिनका प्रचलन आज-कल के काव्यों में अधिक नहीं रहा है। पर, यह एक अद्भुत सत्य है कि कवि ने इन सभी—आधुनिक और प्राचीन—छंदों का प्रयोग पूरी सफलता के साथ किया है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि कवि ने इन छंदों का प्रयोग उचित स्थानों पर ही किया है। जहां लम्बे वर्णनों की आवश्य-कता रही है, वहां उसने उस प्रकार के लम्बे छंद चुने है, और जहां उसका वक्तव्य सीमित रहा है, वहां उसने छोटे छंद चुने हैं। मुक्त-छंद के विषय में भी यही बात लागू होती है। उसके मुक्त-छंदों में कहीं पर भी हमें नये प्रयोग के आग्रह की भावना नहीं मिलती। बल्कि, इसमें कवि ने आवश्यकता और वक्तव्य का संतुलन करने का प्रयत्न किया है।

इस प्रकार इन सब दृष्टियों से 'उर्वशी' काव्य को आधुनिक युग का एक उत्कृष्ट महाकाव्य कहा जा सकता है। इस विषय में मतभेद हो सकते हैं कि इसे कौन-सा स्थान हिन्दी साहित्य में दिया जाए। पर, इस विषय में संदेह का अवकाश नहीं है कि इसका यह स्थान किसी भी रूप में दूसरे दर्जे का नहीं है। हिन्दी के अग्रगण्य काव्यों में इसका भी स्थान है। इसे सर्वोत्कृष्ट कहने में कुछ हिचक होने का कारण यह भी हो सकता है कि इसका काव्यरूप परम्परागत महाकाव्यों से एकदम भिन्न रहा है। पर, उस दृष्टि से इसे **नाट्य रूप में सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य** तो स्वीकार किया ही जा सकता है।

११

परशुराम की प्रतीक्षा

बीस अक्तूबर १९६२ को भारत के पड़ौसी और पुराने मित्र राष्ट्र चीन ने अचानक ही भारत पर हमला कर दिया। राजनैतिक दृष्टि से यह ग़ल्ती थी। भारत इस प्रकार की बात के लिए बिलकुल भी तैयार न था। अक़साई चिन और नेफ़ा का हज़ारों मील का प्रदेश चीन ने पिछले कई सालों से हथिया रखा था। पर भारत का प्रतिरोध पत्र-व्यवहार तक ही सीमित रहा। इतने वर्षों के बीच हमने तैयारी का शोर खूब मचाया, किन्तु तैयारी हुई कुछ भी नहीं। इस हमले ने साबित कर दिया कि हम कितने खोखले हो चुके थे।

हार की झेंप मिटाने के लिए हमने कृष्ण मेनन को रक्षामंत्री के पद से त्याग-पत्र देने पर विवश किया। पर क्या इतने से ही सब समाधान होगया। मेनन हों या चह्वाण—देश की रक्षा 'रक्षामंत्री' और 'सामग्री' से नहीं हो सकती। उसके लिए भावना और नीति का बदलना आवश्यक है। जब तक हम 'शान्ति' और 'अहिंसा' के नाम पर अकर्मण्यता का पल्ला पकड़े रहेंगे, यही कुछ होगा।

युवक 'दिनकर' बढ़ती आयु के आवरण को उतार कर जागा, और सिंहनाद कर उठा। उसका सारा अनल-दर्शन **'परशुराम की प्रतीक्षा'** में समाहित हो गया। नेतृत्त्व और नीति में परिवर्तन की यह माँग किसी विद्रोही युवक की ही थी।

परिचय—दिनकर के इस नीवन संग्रह **'परशुराम की प्रतीक्षा'**— ने भारत के सोते सिंहों को जगाने के लिए शंखनाद कर दिया है। अट्ठारह कविताओं के इस संग्रह में 'हुंकार' से भी अधिक तेज है, 'कुरुक्षेत्र' से

भी व्यापक **चिन्तन** है, और 'उर्वशी' से भी अधिक **प्रवाह** है। 'सामधेनी' की तीनों कविताओं को छोड़कर, शेष में से दस की रचना २० अक्तूबर १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद हुई है। 'एनार्की' की रचना उस तिथि से नौ दिन पहले की है। शेष में से 'एक बार फिर स्वर दो' नामक दोनों रचनायें तथा 'तब भी आता हूँ मैं' भी दो वर्ष पूर्व की ही हैं। 'समर शेष है' रचना में एक शाश्वत चेतावनी है। इस प्रकार कुल मिलाकर इसकी रचनाओं में पिछले तीन वर्ष में कवि के भीतर प्रस्फुटित प्रतिक्रिया को अभिव्यक्ति मिली है। निश्चय ही इस अभिव्यक्ति को केवल तीन वर्ष की परिस्थितियों की प्रतिक्रिया ही नहीं कहा जा सकता।

भूमिका—स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से ही कवि को कुछ समस्यायें कचोटती आई हैं। आरम्भ में— सन् '५० से पूर्व तक— वह देश के नवजारण और राष्ट्रीय उत्साह के प्रति सजग और उत्सुक था। सन् '५३ की उसकी कविता 'समर शेष है' उस उद्बोधन का परिणाम है, जिसमें देशव्याप्त आलस्य और प्रतिगामिता ने आदर्श नारों का खोखलापन उसके सामने सिद्ध कर दिया था। 'एक बार फिर स्वर दो'—'६० और, '६१ में—एक-एक वर्ष के अन्तर से लिखे गए दो गीत हैं। यहां कवि के सारे आदर्श स्वप्न झड़ ही नहीं गए हैं,बल्कि वह समाज और राजनीति का विश्लेषण करके इस परिणाम पर पहुँच चुका है कि एक नई क्रान्ति आने ही वाली है। शान्तिपूर्ण-प्रयासों की यदि यह अन्तिम आशा-किरण भी नया प्रकाश लाने में असमर्थ रही, तब क्रान्ति आयेगी ही— आकर ही रहेगी :

> **कहो शान्ति का मन अशान्त है,बादल गुमर रहे हैं,**
> **तप्त ऊमसी हवा टहनियों में छटपटा रही है,**
> **गाँधी अगर जीतकर निकले, जलधारा बरसेगी,**
> **हारे तो तूफान इसी ऊमस से फूट पड़ेगा ।।**

वह देख रहा था कि गांधी का नाम लेकर या आदर्शों की दुहाई देकर जनता को बहुत दिन तक अंधेरे में रखा नहीं जा सकेगा। स्वयं

अपने जीवन की पवित्रता के बिना शासक क्रान्ति को लाएंगे।'

उन्हें पुकारो जो गाँधी के शिष्य सखा सहचर हैं,
कहो,आज पावक में उनका कंचन पड़ा हुआ है।
प्रभापूर्ण होकर निकला तो यह पूजा जायेगा,
मलिन हुआ तो भारत की साधना बिखर जायेगी!

'तब भी आता हूं मैं' भी इसी समय की रचना है। कवि इसमें भी चारों ओर एक घुटन और उमस अनुभव कर रहा है। 'गाँधीवाद' को पूंजी-पतियों का रक्षक साम्यवाद-विरोधी हथियार समझा जा रहा है। लोग अपने-अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हैं। 'विनय' या 'सत्याग्रह' सर्वथा असफल रहे हैं। शायद बल-प्रयोग के बिना काम चलेगा भी नहीं। समाज-रचना के लिए विवशता में यदि बल प्रयोग करना भी पड़े तो उससे झिझकना क्यों ?

पढ़ो सामने के अक्षर क्या कहते हैं ये ?
विनय विफल हो जहाँ, बाण लेना पड़ता है।
स्वेच्छा से जो न्याय नहीं देता है, उसको
एक रोज आखिर सब कुछ देना पड़ता है।

और यदि शासक इस शक्ति-प्रयोग में समर्थ नहीं हैं, तो राष्ट्र को स्वयं यह कार्य हाथ में लेना होगा। युग-मर्यादा के भंग हो जाने पर भी, भविष्य के स्वप्न ध्वस्त हो जाने पर भी, क्रान्ति का सन्देश-वाहक उसको लाता ही है :

टूट गये युग के दरवाजे ?
बन्द हो गयी क्या भविष्य की राह ?
तब भी आता हूँ मैं!

आरम्भ—इसी भूमिका पर 'परशुराम की प्रतीक्षा' का कवि चीनी आक्रमण के प्रकाश में अपनी रचनाओं से क्या मन्त्रपाठ आरम्भ करता है। वह अपने ही शब्दों में 'धर्म और खड्ग' को साथ-साथ वहन किये चला आ रहा है :

हां, वही, रूप प्रज्वलित विभासित नर का,
अंशावतार सम्मिलित विष्णु-शंकर का।
हाँ, वही, दुरित से जो न सन्धि करता है,
जो संत धर्म के लिये खड्ग धरता है। (परशुराम)

परशुराम की प्रतीक्षा उसे रही : वह स्वयं ही तो काव्य-जगत् का परशुराम है। क्या उसे त प और आलोक साथ-साथ सहन नहीं करने पड़ रहे ? शान्ति के सन्देशवाहक कवि को आज फिर से क्रान्तिदूत बनना पड़ा है।

किन्तु हृदय से जब भी कोई आग उमड़ कर,
चट्टानों की वज्र मधुर रागिनी,
कण्ठ स्वर में भरने आती है।
ताप और आलोक जहाँ दोनों बसते आये थे,
वहां दहकते अंगारे केवल धरने आती है। (आपद्धर्म)

काव्य की इस नई चेतना के सन्देशवाहक कवि ने जो नयी रागिनी इसमें छेड़ी है, उसका उपसंहार है 'परशुराम की प्रतीक्षा' में। उसका आरम्भ है नौ छोटी कविताओं में और एनार्की में। 'एनार्की' की रचना यूं तो चीनी आक्रमण के रहते ही हुई है, पर तब तक २० अक्तूबर '६२ की सी स्थिति नहीं आई थी। अतः इसमें उस स्थिति का एक अनिवार्य चित्र आ गया है, जो चीनी-आक्रमण की पृष्ठभूमि को हमारे सम्मुख स्पष्ट कर देती है। निम्न दो पद्यों में चित्रित स्थिति ने भी सरकार और जनता को सचेत नहीं किया, यह आश्चर्य की ही बात है :

दोस्त ही हैं देखके डरो नहीं,
कम्युनिस्ट कहते हैं, चीन से लड़ो नहीं।
और कांग्रेसी भी तबाह है।
ठीक ठीक जान ही न पाता कौन राह है।
दायाँ या कि बायाँ कौन ठीक है ?
पूछता है, यार, गाँधी जी की कौन लीक है ?

ऐसे समय कवि अपने वर्ग की चिन्ता को व्यक्त किए बिना नहीं रह सकता :

चिन्तकों में अजब उमंग है,
जनता चकित और सारा विश्व दंग है।

परन्तु वह निर्जीव और निष्प्राण चिन्तकों के वर्ग से भी पूरी तरह परिचित है।

दूसरा है रोता, विधिवाम है।
सेनाओं का गाँधी जी के देश में क्या काम है ?

इसीलिए कवि चारों ओर की इस दयनीय स्थिति के विवेचन के बाद देश की स्थिति की 'एनार्की' से तुलना करता है :

भिन्नता सम्भाले तार तार की,
राज करती है यहां चैन से एनारकी ॥

यह वर्णन कितना सच है ! इसका आभास हमें तभी हो सकता है, यदि हम इतना याद रखें कि इस कविता के ठीक दस दिन बाद ही कवि के देश पर बाहरी आक्रमण हो गया, और हमारा 'गणतन्त्र' या 'जनतंत्र' उस हमले के लिए बिल्कुल अनुद्यत और असज्ज सिद्ध हुआ।

तब २० अक्तूबर के बाद कवि को बौखलाहट होनी स्वाभाविक ही थी।

सजग बौखलाहट—किन्तु यह बौखलाहट अत्यन्त सजग एवं प्रबुद्ध है। इस बौखलाहट और सजग चिन्तन के मिश्रित स्वर से भरी हुई ये नौ छोटी कविताएं प्रथम नवम्बर से मध्य दिसम्बर '६२ तक रची गई हैं। लगता है कि आक्रमण के आरम्भिक दस दिनों ने कवि के अन्तस् को झिझोड़ कर रख दिया। इन आरम्भिक दिनों में कवि को एक के बाद एक अप्रत्याशित समाचार सुनने को मिले। जो कुछ उसे प्रत्यक्ष देखना मिला उसे देखने वाली अपनी आँखों पर वह विश्वास नहीं कर सका प्रतीत होता है। किन्तु, इधर भारत सरकार 'सुरक्षा-स्थिति' की घोषणा करती है और उधर कवि का हृदय एक नये सत्य के दर्शन करता है। उसे सारी

भारतीय संस्कृति का पुर्नदर्शन सा होता है। और, पुण्य-पाप की सारी सांस्कृतिक धारणा को एकबारगी ढाकर वह राजर्षि विश्वामित्र की वाणी में चिल्ला उठता है: "यदि छल की विजय पाप है, और पाप से ही हमें विजय मिलती है, तो वह पाप भी हमें मंजूर है। ऐसा पाप पुण्य से भी बढ़ कर प्रिय है":

सच है, छल की विजय, अन्त तक,
विजय नहीं, अभिशाप है।
किन्तु भूल मत और पाप जितने घातक हों,
समर हारने से बढ़कर घातक न दूसरा पाप है।

कवि देश की इस विकृत स्थिति का उत्तरदायित्व केवल नेताओं, पूंजीपतियों और ठगों पर ही नहीं रखता। स्वयं अपनी अशक्ति, आलस्य, उपेक्षा और चिन्तनहीनता के कारण अपने पतन और राष्ट्र के विनाश को आह्वान करने वाली जनता को भी वह उतना ही दोषी ठहराता है। जनता उनके भाषण चुपचाप क्यों सुनती है? अपने पड़ौसी को लुटते चुपचाप क्यों देखती है? दैनिक जीवन में उठने वाले राजनैतिक और आर्थिक प्रश्नों की सही विवेचना से वह क्यों घबराती है? कवि मौन और तटस्थता दोनों को ही जघन्य अपराध समझता है। वह समाज में किसी को भी 'अनघ' मानने को तैयार नहीं! नेताओं का यह कहना—कि, "हमें कभी अनुमान भी न था कि चीनी ऐसा धोखा करेंगे"— स्वयं को और विश्व को धोखा देना है। कोई विपत्ति एकाएक नहीं आती। उसके सब सामान पहले से ही जुटाये जाते हैं। मन्त्रियों की ग़लत आज्ञायें क्या पाप नहीं हैं?

कह सकता है, जो विपत्तियाँ अब आयी हैं,
तूने उनका कभी नहीं आह्वान किया था?
ग़लत हुक्म कर दर्ज संचिकाओं पर अथवा,
गलत ढंग से अपना घर-आँगन बुहार कर?

इसलिए जहां छोटे से बड़े तक सभी दोष के भागी और बीज बोने

वाले हों, वहां 'चीनी-आक्रमण' का मुकाबला केवल रणभूमि में ही नहीं किया जा सकता। रणभूमि का साम्मुख्य भी तभी सफल होगा, यदि खेतों, कारखानों, गोष्ठियों, बाजारों और अन्यत्र सभी जगह से आलस्य और अकर्मण्यता को हटाकर हम वहां सतर्कता और सजगता का समावेश कर दें।

सरहद पर ही नहीं, मोरचे खुले हुए है,
खेतों में, खलिहान, बैठकों, बाज़ारों में !
जहां कहीं आलस्य, वहीं दुर्भाग्य देश का।

और इसीलिए वह 'चीनी-आक्रमण' को केवल एक विशिष्ट रण-क्षेत्र में होने वाला विदेशी-आक्रमणमात्र नहीं समझता। उसकी दृष्टि भारत के राष्ट्रीय जीवन के हर क्षेत्र में ऐसे स्वदेशी 'चीनी' आक्रान्ता उपस्थित हैं: फिर चाहे वे मुनाफ़ाखोर हों, आलसी हों, या लोभी हों।

और आज भी जिस पापी का सही नहीं ईमान।
चीनी है, दुश्मन है, सबके लिए काल है।।

परन्तु, कवि यहां श्रोता को इस बात के लिए भी फटकारता है कि वह और उसके नेता देश-रक्षा का भार सैनिकों पर सौंप कर स्वयं निश्चिन्त होगए हैं। ऐसे व्यक्तियों को भी वह 'पापी' करार देता है:

अपनी रक्षा के निमित्त औरों को रण में,
कटवाना है पाप, पाप है यह विचार भी,
जगें युवक सीमा पर, हम सोने जाते हैं !

परन्तु कवि **शान्तिवादी** भावना के भी जड़मूल से विरुद्ध है। शान्ति चाहने का अधिकारी वही है, जो सशक्त हो ? शक्तिहीन को शान्ति का नाम लेने का भी अधिकार नहीं। शान्ति की रट लगाने का अर्थ यह नहीं कि देश के युवक कटते जायें, मातायें पुत्रहीन होती जायें, पत्नियां विधवा बनती जायें, पुत्र अनाथ होते जायें, और हम शान्ति की रट लगाते चले जायें। चारों ओर आग जल रही हो, हम शान्ति के कबूतर उड़ायें— यह यथार्थ और सत्य की अवहेलना नहीं तो और

क्या है ?

माताओं को शोक, युवतियों को विषाद है,
बेकसूर बच्चे अनाथ होकर रोते है !
शान्तिवादियो ! यही तुम्हारा शान्तिवाद है ?

और इसीलिए शान्ति के कबूतर उड़ाने की अपेक्षा वह शक्ति की उपासना को अधिक उचित समझता है। अन्यथा शक्ति की ऐसी पुकार स्वयं अपने देश पर आफत लाने वाली होगी।

और उड़ाये हैं इसने उज्ज्वल कपोत जो,
उनके भीतर भरी हुई बारूद है।

गांधी की शान्ति-प्रियता का अर्थ न समझने वालों का इससे बड़ा उपहास होगा भी क्या, कि आज वे बम-गोली माँगते फिरते हैं।

देशवासी ! जागो ! जागो !
गाँधी की रक्षा करने को, गाँधी से भागो !

तथा, **गिराओ बम, गोली दागो !**
गाँधी की रक्षा करने को गाँधी से भागो !

(अहिंसावादी का गीत)

वह गाँधी, बुद्ध और अशोक को महान् अवश्य मानता है, किन्तु स्वप्न-द्रष्टा मात्र ! परन्तु, आज उस सब 'ऋषित्व' का—उस सब 'कवित्व' का—समय नहीं है। यथार्थ की उपेक्षा कर जीवित नहीं रहा जा सकता।

गाँधी, बुद्ध, अशोक नाम है बड़े दिव्य स्वप्नों के,
भारत स्वयं मनुष्य जाति की बहुत बड़ी कविता है।
गांधी, बुद्ध, अशोक विचारों से अब नहीं बचेंगे !
उठा खड्ग; यह और किसी पर नहीं
स्वयं गाँधी, गंगा, गौतम पर ही संकट है !

चारों ओर पशुता का मद उमड़ रहा हो और हम भारतीय संस्कृति के तथाकथित गुणों को पुकारते रहें ! 'देह' और 'आत्मा' का नाम

लेने और उनका ध्यान करने के अलग-अलग अवसर भी आ पड़ते है। या तो हम 'धर्म' और 'वल' की समन्वित दृष्टि रखें, या फिर 'देह' पर संकट आने पर, विश्वामित्र की भांति, धर्म को छोड़ कर भी देह-रक्षा में प्रवृत्त हो।

आत्मा की तलवार सर्वथा वहाँ व्यर्थ है,
जहाँ अखाड़ा खुला हुआ हो देह का ! (इतिहास का न्याय)

'जौहर' करने वाली नारियाँ जो सोचती हैं, उसे 'सतीत्व' का वासना रहित-सा चित्र बना कर प्रस्तुत करना व्यर्थ है। वे तो अपने पति-पुत्र-भाई से बलिदान की पुकार मांगती है।

भारत में जब कभी कड़कता वज्र,
सती भामिनियां सहसा हो उठतीं निर्मम, कठोर !
दाँतों से अधर दबा,
आँखों का अश्रु रोक,
बलि वेला की आरती , पुष्प, रोली सहेज,
पुरुषों को रण में भेज,
चण्डिकायें सगर्व,
सिंदूर लेप घर-घर उमंग की शिखा सजाती हैं।

'जौहर' का यह नया रूप है। पर कभी-कभी पुराना रूप भी उभड़ता है : जब देश के जवान हिम्मत हार उठते हैं—हार जाते हैं।

हारे नर को देख,
देवियाँ दबीं ग्लानि के भार से,
जल उठती हैं, अगर
काट सकतीं न कण्ठ तलवार से।

अतः कवि की दृष्टि में स्व० जवाहरलाल नेहरू की तत्कालीन उक्ति —'अब भी पशु मत बनो'—उस युग का धर्म नहीं थी। उसमें भविष्य-दृष्टि अवश्य थी, पर यथार्थ के वह विपरीत ही रही। 'आज कसौटी पर गांधी की आग है' में कवि पूछता है :

देखा है क्या कहीं और भूपर उस नर को—
जिसे न चढ़ता जहर,
न तो उन्माद कभी आता है;
समर-भूमि में भी जो,
पशु होने से घबराता है ?

कवि जानता है कि यह बात युगधर्म के विपरीत है :

पर यह सुधा-तरंग कौन पीने देता है ?
बिना हुए पशु आज कौन जीने देता है ?

अभय, सत्य, विनय, आदि शब्द अपना अर्थ खो देंगे, यदि इन के कर्त्ताओं के पास उचित बल न हो । समय की पुकार यही है :

समय पूछता है, ज्वाला है कहाँ अभय की ?
कहां सत्य का वज्र, लौहमय रीढ़ विनय की ?

और, तब वह पुकार उठता है उस बड़वानल के दर्शन के लिए, जो सिन्धु की ऊपरी झाग के नीचे दबा पड़ा है । गांधी के अमित तेज ने जो उसे शक्ति दी थी, उसी का परिणाम था 'अहिंसा' । पर यदि आज उसका अर्थ हम और हमारे शत्रु गलत समझ बैठे हैं, तो वह 'अहिंसा' का दोष नहीं । हमें फलों की रक्षा नहीं करनी, पेड़ की रक्षा करनी है । यदि गांधीवाद के समग्र सिद्धांतों की रक्षा के लिए अहिंसा के भ्रामक रूप को त्याग भी दिया जाय, तो उतने से ही गांधीवाद मर न जाएगा । बल्कि उसकी सच्ची रक्षा तभी होगी ।

कहाँ सिन्धु का अनल,
अधर पर जिसके इतना झाग है ?
आज अहिंसा नहीं,
कसौटी पर गांधी की आग है ।

और इसके साथ ही उसने 'लोहे के मर्द' और 'जनता जगी हुई है' में सेना और जनता के जोश और उनके कर्त्तव्य को स्पष्ट किया है । जन-जागरण होने पर नेता कब तक सोते रहेंगे ?

इसी भूमिका पर आती है, **'परशुराम की प्रतीक्षा'** ।

सतर्क जागरण—'परशुराम की प्रतीक्षा' है कवि दिनकर का पुनर्जागरण ! 'हुंकार' का कवि फिर से जागा है । 'सामधेनी' की संकलित कवितायें बता रही हैं कि 'हुंकार' का कवि कभी सोया ही नहीं था। **'रश्मिरथी'** और **'कुरुक्षेत्र'** में भी वह जगा रहा है । हां, वहां समस्याएं अवश्य कुछ भिन्न हो गई थीं, पर उत्तर उनका भी वही था ।

'उर्वशी' सन् १९६१ का प्रकाशन है । इस नाट्य-महाकाव्य से यह भ्रम हो गया था, जैसे **'रसवंती'** कवि की असली जीवन धारा थी । पर स्वयं 'उर्वशी' का विश्लेषण बता देगा कि उर्वशी के तर्कों में कवि ने जाने अनजाने अपना सारा 'अनल-दर्शन' उँडेल दिया है ।

और, चीनी आक्रमण होने पर कवि ने देखा कि 'अनल' की पुकार, प्रेम के क्षेत्र में भी नहीं, जीवन के व्यापकतम क्षेत्र में भी होनी चाहिए । दैन्य, कातरता और नपुंसकता को देखकर कवि का यौवन फिर से उबल पड़ा । सोते सिंह की भांति वह फिर से जागा । इस बार उसकी आंखें लाल थीं । उसकी उठी भौंहों से उसकी आयु का भ्रम दूर हो गया ।

कृष्ण मेनन का त्यागपत्र ? ठीक है ! पर क्या इतने से ही देश का इलाज हो गया ? जहां की मिट्टी बिगड़ी हो, जहां नये बीज न उग सकते हों, वहां मोहरे बदल देने से क्या होगा ? देश को आवश्यकता है नए नेतृत्व की और नई नीति की ! जवाहरलाल मानवतावाद के पुजारी थे । वे सच्चे अर्थों में अहिंसा के पुजारी थे । पर इसकी मार किस पर पड़ी ! केवल आदर्शवादी नीतियों के बल पर देश का रक्षण नहीं हो सकता था ।

इस नए नेतृत्व एवं नई नीति की चाह को लेकर ही यह कविता लिखी गई है ।

रचना विधान—यह कविता पांच खण्डों में बँटी है । पूर्णतः यह खण्डकाव्य भी नहीं है और न ही इसे गीतिकाव्य कहा जा सकता है । इसमें प्रबन्धात्मक प्रवाह भी है, नाट्योचित औत्सुक्य भी है, और पाँच

खण्डों में विभाजन भी। इनमें से पहले तीन खण्डों में तीन प्रश्न किये गए हैं। प्रथम और द्वितीय खण्ड में क्रमशः एक-एक प्रश्न का उत्तर दिया गया है। किन्तु तीसरे प्रश्न का उत्तर अगले तीन खण्डों में दिया गया है।

विवेचन—प्रथम खण्ड में का **आरम्भिक प्रश्न** मोर्चे के सैनिक से है।

गरदन पर किसका पाप, वीर ! ढोते हो ?
शोणित से तुम किसका कलंक धोते हो ?

कवि इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आरम्भ में ही अपनी विचार-धारा स्पष्ट कर देता है। वह जानता है कि यह संस्कृति के गलत अध्ययन और नीतियों के गलत निर्धारण का परिणाम अधिक है :

उनका जिनमें कारुण्य असीम तरल था,
तारुण्य ताप था नहीं, न रंच गरल था,
शीतल करते हैं अनल प्रबुद्ध प्रजा का,
शेरों कों सिखलाते हैं धर्म अजा का।

और सैनिक की ओर से वह उत्तर भी दे देता है :

हम उसी धर्म की लाश यहाँ ढोते हैं,
शोणित से संतों का कलंक धोते हैं।

आपत्ति करने वाले **संतों का कलंक** पर आपत्ति कर सकते हैं। साम्यवादी कहते हैं कि दिनकर 'समाजवाद' की बात भूलकर, इतनी छोटी-सी बात पर **हिंसा की आग** उगलने लगा। इसे वे **आस्था में गड़बड़** मानते हैं। पर कवि ने तो **'रश्मिरथी'** और **'कुरुक्षेत्र'** में भी यही कहा था। उसकी दृष्टि पूर्णरूप में **'भारतीय संस्कृति के चार अध्याय'** में विकसित हुई है। संत-धर्म के भ्रामकरूप पर कवि को आरम्भ से ही आपत्ति रही है।

द्वितीय प्रश्न—दूसरे खण्ड के आरम्भ में कवि बलिदानी सैनिक से पूछता है—

हे वीर बन्धु ! दोषी है कौन विपद का ?
हम दोषी किसको कहें तुम्हारे वध का ?

क्या कृष्ण मेनन के त्याग-पत्र से ही विजय सम्भव हो जाएगी ? क्या उसे ही दोषी ठहरा कर हमारा कर्तव्य पूरा हो जाता है ? कवि का इंगित स्पष्ट है :

नेता निमग्न दिन-रात शान्ति-चिन्तन में,
कवि कलाकार ऊपर उड़ रहे गगन में,
तलवारें सोतीं जहाँ बन्द म्यानों में,
किस्मतें वहाँ सड़ती हैं, बन्द तहखानों में !

तब आख़िर राष्ट्र के सामने समस्या है 'संकल्प' की। शस्त्र तो जड़ साधन हैं, पर सजीव साधन है—**संकल्प** :

हम देंगे तुमको विजय, हमें तुम बल दो,
दो शस्त्र और अपना संकल्प अटल दो।

पर राष्ट्र में बलिदानी भावना भी तो नहीं है। गरीब लोग सर्वस्व-दान कर रहे हैं, किन्तु जिनकी तिजोरियां सोने से भरी हैं, वे उन्हें खाली करने का नाम भी नहीं लेते। बलिदान का अनुचित लाभ कुछ लोग ही उठा रहे हैं।

तृतीय प्रश्न—कवि पूछता है सैनिक से, फिर किस स्वप्न के लिए तुम लड़ रहे हो ? भविष्य की कौन सी नई आशा लेकर तुम खड़े हो ?

किरिचों पर कोई नया स्वप्न ढोते हो ?
किस नई फ़सल के बीज वीर ! बोते हो ?

इस प्रश्न का उत्तर कवि ने तीन खण्डों में दिया है। **तीसरे खण्ड** में सैनिक केवल इतना ही कहता है :

हम टूट रहे केवल स्वतन्त्र रहने को।

पर वह जानता है कि केवल सैनिक ही रण नहीं जीत सकते। जनता और नेताओं की मनोवृत्ति में परिवर्तन होना आवश्यक है। वह प्राचीन वीरों को स्मरण करते हुए कह उठता है।

साहसी शूर-रस के उस मतवाले को,
टेरो, टेरो, आज़ाद-हिन्द वाले को।

कवि देश की भावना को प्रकट करता है, कि विनय और सत्याग्रह का प्रयोग अब काम नहीं कर सकता। यहां भगतसिंह और उसके साथियों की नीति ही चलेगी।

हम मान गए वे धीर नहीं उद्धत थे,
वे सही, और हम विनयी बहुत गलत थे।
साधना स्वयं शोणित कर धार रही है,
सतलज को साबरमती पुकार रही है।

यहां कवि इतिहास की समीक्षा करके एक नई बात कहता है—

जिनका सारा इतिहास तप्त जगमग है,
वीरता वन्हि से भरी हुई रग-रग है।

और इस यज्ञ में चिंतक, ऋषि, योगी, एवं गौतम, अशोक, और शंकर सभी को साथ देना होगा।

इस प्रकार इस खण्ड में कवि ने केवल अपनी **इच्छा** बताई है।

चतुर्थ खण्ड में वह अपने **स्वप्न** की चर्चा करता है। वह जानता है कि बलिदान अपना फल लाकर ही रहेंगे। एक बार जगा देश फिर से न सो पाएगा। सैनिक सत्य ही कोई झूठा स्वप्न लेकर नहीं बढ़ रहा। उसे यह दृढ़ विश्वास है कि इस अग्नि-परीक्षा का कोई-न-कोई परिणाम सामने आयेगा ही।

और, सैनिक की आँखों में सच ही स्वप्न झूम उठा है। **नया नेता** और **नया धर्म** आ रहा है। संतों पर श्रद्धालु और वीरों के पूजक भारत के लिए कवि ने **परशुराम** को ही सच्चे नेता का प्रतीक माना है, जो सच्चे संत-धर्म का प्रतीक है। वह संत भी है और वीर भी! वह त्यागी भी है, पर विजेता भी! ब्रह्म और क्षत्र का उसमें एकत्र समन्वय है।

और **'संत-धर्म'** केवल दया-करुणा में नहीं है। शक्ति हाथ में लेकर चलने वाला सच्चा वीर ही करुणा और दया दिखाने का अधिकारी है। आज का युग ऐसे नेता की प्रतीक्षा में दम साधे खड़ा है।

है एक हाथ में परशु, एक में कुश है,
आ रहा नये भारत का भाग्य पुरुष है।...
जो संत-धर्म के लिए खड्ग धरता है।

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि : यही तो है वास्तविक संत-चरित्र :

यह वज्र-वज्र के लिए सुमों का सुम है;
यह और नहीं कोई, केवल हम-तुम है।

कवि हममें ही परशुराम की भावना जगाना चाहता है।

दर्शन—पंचम खण्ड में कवि इसी 'भावना' को **परशुराम के धर्म** के रूप में प्रस्तुत करता है। कवि का यह 'दर्शन' हमें 'रश्मिरथी' और 'कुरुक्षेत्र' में पहले भी देखने को मिल चुका है। पर समयानुकूल होने से यहां उसकी उग्रता और युक्तिमत्ता बढ़ गई है। वीर के धर्म को कवि इस प्रकार कहता है :

चोटें खाकर बिफ़रो, कुछ अधिक तनो रे!
धधको, स्फुलिंग से बढ़ अंगार बनो रे!

इस खण्ड के बयालीस पद्यों में से केवल दो-चार में ही कवि का **दर्शन** समा जाता है, शेष में सांस्कृतिक पष्ठभूमि के दर्शन होते हैं। उसके दर्शन को हम चार सूत्रों में बांध सकते हैं :

(१) **धर्म** और **पौरुष** एक-दूसरे पर आधारित हैं :

सत्य है धर्म का परम रूप यव कुश है,
अत्यय-अधर्म पर परशुमात्र अंकुश है।

(२) **अनल** ही शाश्वत जीवन का प्रतीक है :

है अनल ब्रह्म, पावक तरंग जीवन है,
अब समझा क्यों पावक अभंग जीवन है?

(३) अनल का लक्ष्य, संहार नहीं, आचार का पूतीकरण है :

भव को न अग्नि करने को क्षार बनी थी,
रखने को बस उज्ज्वल आचार बनी थी!

(४) जीवन स्वयं अपने अनल से जीवित है : स्वतः प्रकाशमान और प्रवहमाण है ।

(क) जीवन अपनी ज्वाला से आप ज्वलित है ।

(ख) जीवन का अन्तिम ध्येय स्वयं जीवन है ।

'अनल' से भागने वाले को कवि झूठा और कायर मानता है ।

अन्त में कवि फिर से, 'रश्मिरथी' के समान, युग-जागरण का आह्वान करता है :

निर्जर पिनाक हर का टंकार उठा है,
हिमवन्त हाथ में ले अंगार उठा है,
ताण्डवी तेज फिर से हुंकार उठा है,
लोहित में था जो गिरा, कुठार उठा है ।

यहां 'लोहित' श्लेषार्थक है । परशुराम का कुठार 'लोहित-सरोवर' में गिरा था, और चीनियों ने 'लौहित्य' (लोहित) प्रदेश पर ही सबसे भयंकर आक्रमण किया । दोनों एक ही स्थान के वाचक हैं ।

इस प्रकार यह कविता स्वतः सबसे मुख्य है, और कवि की एक निश्चित धारणा को व्यक्त करती है ।

कलापक्ष—कलापक्ष के सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न उठता है, इसके **शिल्प विधान** का । उल्लिखित विवेचन से ऐसा ही प्रतीत होगा कि यह काव्य-संग्रह सुनियोजित ढंग में होने से, कम से कम भावना की दृष्टि से, एक **क्रमवान्** काव्य अवश्य हो सकता था । परन्तु वर्तमान क्रम में इसे किसी भी प्रकार 'कविता-संग्रह' से अधिक नहीं कहा जा सकता । यह बात बहुत अंश तक ठीक है । संदेश में तर-तम-भाव लाने के लिए यदि 'सामधेनी' की कवितायें पहले, और फिर तिथिक्रम से अन्य रचनायें देते हुए 'परशुराम की प्रतीक्षा' को सबसे अन्तिम स्थान दिया जाता, तो अधिक भाव-ऐक्य और आवेग रहता । उनमें कवि की भाव-भूमि एक क्रम से स्पष्ट हुई । किन्तु, कवि ने सबसे अन्त में स्थान पा सकने वाली कविता को ही आरम्भ में रखा है : शायद जान-बूझकर, या शायद अनजाने !

पर इसमें भी एक सौन्दर्य आ गया है । सौन्दर्य यह कि कवि ने, 'सोरठे' में 'दोहे' से क्रम पलट कर, भाव-वृद्धि होने की युक्ति को प्रयोग किया दीखता है । अन्य सम्पूर्ण कविताओं में बिखर कर जितने भाव आये हैं, वे सब अकेली कविता '**परशुराम की प्रतीक्षा**' में अधिक स्पष्ट, संबद्ध और संनद्ध होकर आये हैं । कवि का 'वीरत्व' और 'मर्यादा' सम्बन्धी, आरम्भ से अब तक का, समस्त चिन्तन जैसे एकबारगी इसमें प्रगट हो उठा है । अगर अन्य कवितायें 'स्फोट' हैं, तो यह सुचिन्तित और साक्रोश 'गर्जन' है । सम्पूर्ण सत्रह कविताओं में कवि का चिन्तन इस सुनिबद्ध 'दर्शन' के रूप में कहीं नहीं आया है । यदि ऐसी कविता को अन्त में रख दिया जाय, तो कवि जो संदेश इतना मथ कर निकाल पाया है, वह धरा का धरा रह जाएगा । छोटी-छोटी कविताएं वह पृष्ठभूमि पूरी तरह नहीं जगा सकेंगी, जिस पर यह कविता आई है । हां, इस कविता को पढ़ने के बाद उनके भाव अवश्य स्पष्ट होते चलते हैं ।

दूसरी बात **परशुराम-सम्बन्धी कविता के विधान** के बारे में है । देखने में यह **संवाद-नाटक** के रूप में भी कही जा सकती है । नाम और संकेत जोड़ते ही यह 'रासो' की भाँति गीति-नाट्य भी बन सकती है । फिर भी कवि ने इसे श्रव्य और पाठ्य पद्य के रूप में ही रखा है । पांचों खण्डों— विशेषतः पिछले तीन खण्डों— के विभाजन को स्पष्ट किया जा चुका है ।

तीसरी बात है **छन्दोविधान** के संबन्ध में ! इस सम्पूर्ण संग्रह में छन्दों में मात्रा या लयभंग कदाचित् ही कहीं हुआ है । कदाचित् ऐसे स्थल ढूंढने पर भी तीन से अधिक हमें नहीं मिले । वे भी कविमुख से अथवा सस्वर पाठ के अवसर पर एकदम सही सिद्ध हुए हैं । कोई भी कवि मात्राओं का क्रम गिनने की अपेक्षा अपने ही सुर और लय में मस्त रहता है ।

भाषा पर विचार के समय हमें इस संग्रह की वक्तव्य वस्तु पर ध्यान रखना होगा । वीर-रस के प्रबोधक काव्य में, आक्रोश और क्रोध की वेला में, यदि कवि ने कहीं कटु शब्द या कटूक्तियां प्रयोग की भी हैं, तो वे,

क्षन्तव्य नहीं, अनिवार्य हैं। उनके बिना परिस्थितियों की कड़वाहट और विषमता स्पष्ट न हो पाती। अन्यत्र भाषा अत्यन्त स्पष्ट, प्रांजल और स्वच्छ रही है।

अलंकार प्रयोग की जहां तक बात है, ऐसी कविता में उनका विवेचन अप्रासंगिक लगता है। तद्गुण, काव्यलिंग, मानवीकरण, निदर्शना, आदि अलंकार ऐसे हैं, जिनके बिना ऐसी कविता रची ही नहीं जा सकती। फिर भी उन सबका परिगणन कराते ही कविता का वास्तविक महत्व गायब होता दीखता है। सत्य तो यह है कि सारा अलंकरण 'लक्षणा' पर आश्रित होता है। परन्तु वीर-काव्य में प्रायः ही **लक्षणा** का प्रयोग नहीं होता। **अभिधा और व्यंजना** ही वहां मुख्य रहती है। कवि के इस संग्रह में इन्हीं दोनों का सर्वत्र भावोद्रेचक आश्रय लिया गया है।

इस प्रकार प्रस्तुत कवितासंग्रह कुछ निर्वैयक्तिक और सर्वसुलभ कटु नुभूतियों की कठोर अभिव्यक्ति के बाद भी **'अनल'** और **'आचार'** का समन्वित काव्य ही बन पाया है। वहां 'वीरता' के साथ सर्वत्र 'संकल्प' की बात सर्वत्र दुहराई गई।

इतनी सीधी पहुंच का यह काव्य निरे **'यथार्थ'** पर आधारित नहीं है। अनुभूति और कल्पना की सजगता ने उसे एक सप्राण **'आदर्श'** भी दिया है: उसे सजीव काव्य बना दिया है।

दिनकर के मन्द पड़ते दीपक में अद्‌भुत तेज भर देने वाले इस काव्य का अधिकाधिक परिशीलन कवि के चिन्तन और उसकी अनुभूति को अधिकाधिक स्पष्ट ही करेगा!

——

१२

नये काव्य

'परशुराम की प्रतीक्षा' के प्रकाशन के नौ मास के भीतर ही भीतर कवि दिनकर ने तीन रचनाओं की सामग्री और प्रस्तुत कर दी थी। पर इनका प्रकाशन सन् १९६४ के आरम्भ से ही सम्भव हो सका। इनमें से, **'कोयला और कवित्व'** तथा डी०एच्० लारेंस की कविताओं की छाया पर रची **'आत्मा की आंखें'** अनेक दृष्टियों से विचारणीय काव्य हैं। इन्हें 'नये काव्य' या लघु-काव्य' कह कर उपेक्षित रूप में नहीं देखा जा सकता। कवि का कृतित्व उसकी छोटी से छोटी कृति में भी स्पष्ट हो उठता है। फिर ये कवितायें तो पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं: कलात्मक दृष्टि से भी और काव्यात्मक दृष्टि से भी!

कोयला और कवित्व' की मुख्य कविता, इसी नाम से, इस संग्रह की अन्तिम कविता है। इस प्रमुख कविता में कवि ने विस्तार से 'उपयोगितावाद' के पक्ष-विपक्ष की चर्चा की है।'कला कला के लिए' मत का वह समर्थक है, किन्तु उसकी व्याख्या बिल्कुल भिन्न है। अन्ततः वह उपयोगितावाद को भी उसी भूमिका पर लाकर काव्य के निष्काम आनन्द की सही व्याख्या कर देता है। अन्तर है **श्रम, कर्म और स्वधर्म** का। **स्वधर्म ही कर्म है**—इस भावना से किया गया श्रम ही 'निष्काम आनन्द' को जन्म देता है।

इस कविता के अतिरिक्त इस काव्य में ४१ छोटी-मोटी अन्य कविताएँ भी हैं। आकारतः सभी छोटी हैं। परन्तु भावना की दृष्टि से सभी का महत्व है। इन छोटी कविताओं के विषय अत्यधिक व्यापक हैं। कवि ने अपनी आयु और अपने कृतित्त्व को भी तोला है, और साथ ही

जगत् की गति और उसके भविष्य को भी कूता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि कवि यहां विचारप्रधान होकर भी, पहुंच की दृष्टि से, सरलता का अनुगामी रहा है। भाषा में कहीं-कहीं जटिलता आई है, पर उसके विपरीत कहीं-कहीं अनिवार्य लोकानुकूल भाषा भी अनुकृत हुई है। हम अन्यत्र कह आए हैं कि 'दिनकर' भाषा के विषय में कोई निश्चित पूर्वग्रह लेकर नहीं चले हैं। विषयानुकूल भाषा के चुनाव में उनकी लेखनी सदा सतर्क रही है। दार्शनिकता ने कला को केवल अन्तिम कविता में ही दबाया है, पर वह भी अनावश्यक रूप में नहीं।

लॉरेन्स की कविताओं का भावानुवाद—**आत्मा की आँखें**—का महत्व भाषा की दृष्टि से अधिक हो उठता है। इसकी कविताओं की भाषा में कुछ कठिक शब्द उर्दू के भी आ गए हैं। अन्यथा वह भाषा लोक-सामान्य अधिक है। इसका अर्थ यह नहीं कि वहां कवि कवित्व की दृष्टि से पूर्ण नहीं उतरा है। बल्कि, सत्य यह है कि कवि ने जिन मूल भावों को लॉरेन्स से लेकर फैलाया है, उनमें बहुत कुछ उसकी अपनी छाप आ गई है। कवि उन विषयों पर प्रायः बहुत पहले से विचार करता आया है। वे विषय जन-जीवन और जन-भावना के इतने निकट रहे हैं कि उनमें भाषा के विषय में पूर्वाग्रह चल ही नहीं सकता था। सच तो यह है कि वहां चिन्तनशैली भी इतनी सरल रही है कि कवि को दार्शनिक आवश्यकता-पूर्ति के लिए कठिन शब्दावली का आश्रय लेने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

भावना की दृष्टि से भी इन कविताओं का पर्याप्त महत्व है। इनके विषय प्रायः जन-जीवन के दैनिक क्रम से सम्बद्ध है। कवि ने जिस ढंग से उन्हें प्रस्तुत किया है। उसमें केवल एक-दो स्थलों पर ही उसका कवित्व 'अनुवाद' की छाया से ग्रस्त रहा है। अन्यत्र वह अनुभूति पर आधारित भावों को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हुआ है।

अतः कह सकते हैं कि ये दोनों ही काव्य कवि-जीवन की महत्वपूर्ण

कड़ी बनकर सामने आए हैं। इनसे एक बार फिर स्पष्ट हो गया है कि कवि आयु की बढ़ती का असर अपनी भावनाओं पर पड़ने देना नहीं चाहता। 'अनल' के जिस दाह और प्रकाश की उपासना वह आरम्भ से करता आया है, वही उसे अब भी प्रिय है। विद्रोह और आदर्श के रूप में वही भावना यहाँ भी पूरी तरह व्यक्त हुई है।

कोयल और कवित्व

इस संग्रह का अन्त इसी नाम की एक लम्बी कविता से होता है। इसे कवि ने किन्हीं खण्डों में विभाजित नहीं किया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि कवि इसमें भी अप्रत्यक्षतः तीन-चार भागों में एक विवादयोग्य विषय के विविध पहलुओं पर विचार कर रहा है।

कवि ने इस कविता को प्रत्युत्तर के रूप में लिखा है। किसी विदुषी ने कवि के इस कथन पर आपत्ति की कि, 'कला निष्काम आनन्द की भावना से उपास्य है, उपयोगिता की दृष्टि से नहीं।' साथ ही, उन विदुषी ने कवि को प्रेरणा दी कि समय आ गया है, जब हमें कविता श्रमिकों और श्रम के पक्ष में, उनके उत्साहवर्धन के लिए, करनी चाहिए।

दोनों ही प्रश्न उपेक्षणीय नहीं है। कवि को सैद्धान्तिक प्रगतिवाद की परिभाषा पर नापने वाले, उससे 'उपयोगितावाद' की हिमायत की आशा करते हैं। कला कला के लिए न रह कर, उनकी दृष्टि में, जीवन के लिए —उसकी उपयोगिता सार्थक करने के लिए—प्रयुक्त होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में, कला स्वतः उद्देश्य न बनकर, साधन बन जानी चाहिए। यूँ, तो 'निष्काम आनन्द' का ध्येय लेकर चलने वाला 'रसवादी' कवि भी कला को ही उद्देश्य नहीं बना बैठता। 'निष्काम आनन्द' ही उसके लिए उद्देश्य रहता है, कला उसी की साधन बन जाती है। फिर भी वह कला को उस 'उद्देश्य' से विकृत नहीं करता। कला की तुष्टि कवि इसी में मानता है कि वह स्वतःपूर्ण हो। यह दृष्टिकोण वस्तुतः 'रसवाद' के दृष्किोण से भिन्न नहीं है। 'दिनकर' इसी दृष्टिकोण के हामी हैं।

किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कला या काव्य से जीवन का

सम्बन्ध नहीं मानते । जीवन के आधार पर ही कला बढ़ती है । यदि वह आधार कट जाए, तो कला कला ही नहीं रह जाएगी । परन्तु, इतने से ही कला का उद्देश्य जीवन की उपयोगिताओं की प्रशस्ति में जुट जाना मात्र भी नहीं हो जाता । दैनिक उपभोग जीवन के क्रम को जारी रखते हैं । वे साधन हैं, उद्देश्य नहीं । आहार, निद्रा, भय और मैथुन के ये साधन तो पशु को भी प्राप्त हैं । तब क्या पशु भी जीवन के आनन्द को पा लेता है ? कदाचित्, एकांश में यह सत्य है । पर, मानव को विवेक की जो शक्ति प्राप्त है, वह उसे पशुता से भिन्न कर देती है । अन्न सामने होने पर भी वह, इसी विवेक के बल पर, कभी भूखा रहने को भी उद्यत हो जाता है । पर, पशुओं के समान जीवन-यापन को मानव का—उसके मन का अथवा उसकी मनः-प्रसूत कला का—उद्देश्य स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

> **उपयोगिता जहां तक सम्मुख, जब तक हम कहते हैं,**
> **वे ही कर्म-कलाप निहित हैं, जिनके सम्पादन से,**
> **हमें अन्न, धन, वस्त्र या कि कोयला प्रभृत मिलता है,**
> **तब तक मानव किसी भाँति भी पशु से भिन्न नहीं है ।...**
> **यह तो मानव ही है, जो उपयोगों की सीमा से,**
> **बाहर निकल नाचता है, जब घर की चुल्लि बुझी हो ।**

सच तो यह है कि 'मानवता या मनुष्यता' का अर्थ ही है पशुता या पशु-जीवन की मर्यादा से ऊपर उठ जाना ।

> **उसी बिन्दु से मानव का मनुजत्त्व शूर होता है,**
> **जिससे इधर जगत उपयोगी, उधर अनुपयोगी है ।**

कवि यह मानकर चलता है कि यदि प्रेम आदि भावनाओं का कुछ भी मूल्य है, तब मानव-जीवन का उद्देश्य केवल जीवन का यापन ही स्वीकार नहीं किया जा सकता । यदि उसके जीवन की सार्थकता उन भावनाओं की उपासना में हैं, जिनका सम्बन्ध, जैविक या दैहिक आवश्यकताओं से ही न होकर, मानव के मन अथवा उसकी आत्मा से है, तब

हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि मनः प्रसूत कला का सम्बन्ध भी उन्हीं भावनाओं से सम्भव और उचित है :

> खा पीकर सो जाय, हाय, इतना ही मनुज नहीं है।
> निद्रा के वन में भी वह सपना देखा करता है,
> उन अभुक्त छवियों का जो, जीवन में नहीं मिली हैं,
> या उनका जो दौड़ रही हैं, अभी रक्त के कण में
> अनाख्यात, अव्यक्त, राह देखती हुई भाषा की।

परन्तु, जब हम निरे उपयोगितावाद के आधार पर बढ़ने लगते हैं, तब 'राष्ट्रवाद' जैसी भावनाओं का जन्म उसी से आरम्भ होता है। कवि ने 'राष्ट्रवाद' को निरी उपयोगिता का निरे स्वार्थों के दृष्टिकोण से जन्म होना स्वाकार किया है। यह भावना बहुत अंशों में साम्यवादी विचारधारा से संगत हैं। साम्यवाद जिस 'अन्तर्राष्ट्रीयता' को जगाना चाहता है, कवि भी उसका ही आह्वान करता है। कवि उसके आह्वान का आधार जिस रूप में प्रस्तुत करता है, वह उसे अधिक काम्य बना देता है :

> और आपको विदित नहीं क्या, राष्ट्रवाद यह कैसे,
> विश्वमनुज को जन्मग्रहण करने से रोक रहा है ?
> कारण ? राष्ट्रवाद उपयोगी भाव, निरी पशुता है।
> विश्व पुरुष पाशविक धरातल पर कैसे जनमेगा ?
> वह जनमेगा जब निहीन उपयोगों के घेरों को,
> अतिक्रमित कर असीम उस जग में चरण धरेंगे।

कवि मानता है कि उपयोगिता के घेरे को तोड़ने पर, श्रमिक ही नहीं, विश्व-मानव के किसी भी काम में हमें वही अकाम-आनन्द झलकता दीखेगा : वही कला सृष्ट होती दिखाई देगी।

> जहाँ गीत श्रमिकों की श्रुतियों में रस बरसायेंगे
> नहीं मात्र इस हेतु, काम से वे थककर आये हैं,
> और श्रान्ति को मिटा काम पर फिर उनको जाना है,

पर, इसलिए कि वे मनुष्य हैं, और सभी मनुजों में
निरुद्देश्य आनन्द पान करने की सहज तृषा है।...
मात्र लेखनी ही लिखती है नहीं काव्य जीवन का,
लिखा जा रहा महारोर में वह पन्ने-पन्ने पर
हलकी नोकों से, कुदाल से और ट्रैक्टरों से भी !!

यहां आकर कवि **कर्म**, **अकर्म** और **विकर्म** में अन्तर समझाने लगता है। कर्म करना धर्म है, उद्देश्य की प्राप्ति की चाह रखना नहीं। प्रकृति से भी यही संदेश मिलता है।

सविता, पुष्प, समीर, चाँदनी, इन सुन्दरताओं का,
जो भी हो परिणाम, किन्तु, कोई उद्देश्य नहीं है।
तब भी ये अवयव निसर्ग के कितने कर्म निरत हैं ?

'अकर्म' और 'कर्म' में अन्तर समझाते हुए कवि कहता है कि **बंधन** या विवशता की भावना के आते ही 'कर्म' जीवन के नाना विरोधों और ग्रन्थियों को जन्म देने का कारण बन जाता है। पर, इसके विपरीत, जब हम कर्म को अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ, स्वयं को पूरी तरह खपाकर, करते हैं, तब वस्तुतः 'निष्काम कर्म' या 'अकर्म' की ही स्थिति होती है : कर्म का बन्धन जो नहीं रहता।

किन्तु, कर्म जब छा जाता कर्मी के पूरे मन में,
जबकि कर्म के सम्पादन में नहीं हाथ ही केवल,
पर, सारा अस्तित्व, प्राण, तन, मन सब लग जाते हैं,
तभी कर्म के भीतर से आनन्द फूट पड़ता है।...
कर्म कर्म-पद छोड़ धर्म बन जाता तब कर्मी का,
जैसे शीतलता जल का, दाहकता धर्म अनल का।

'विकर्म' की व्याख्या में कवि कहता है :

यह विकर्म वाचक है दूषित नहीं, विशिष्ट क्रिया का।
कर्मी वह जो कर्म-निरत है किसी लोभ या भय से,
किन्तु, विकर्मी वह जिसमें शंका, भय, लोभ नहीं है।

पर, तब भी जो लगा हुआ है, अपने कर्त्तव्यों में,
क्योंकि धर्म का त्याग कभी संभव या साध्य नहीं है ।

तब 'अकर्म' से इसमें क्या अंतर है ? कवि कहता है :

ठहर गया जिसका विकर्म, उस सहज कर्मयोगी के
सारे कर्म अकर्म-भाव में स्वयं बदल जाते हैं ।
यह अकर्म संन्यास नहीं है, न तो त्याग कर्मों का,
चरम-बिन्दु पर चढ़े प्राण की यह एकायन स्थिति है
जब कर्मातिरेक के कारण कर्म नहीं दिखते हैं ।
चक्र दीखता स्थिर, जब वह तेजी से घूम रहा हो ।

तो फिर, क्या निष्काम आनन्द का अर्थ यह है कि कला का जीवन से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और तभी 'कला कला के लिए' के सिद्धान्त का जन्म होता है ? कवि की मान्यता इसके सर्वथा विपरीत है । उसका कहना है कि निष्काम आनन्द की भावना से जिस कला को जन्म मिलता है, वह वस्तुतः जीवन की गहराइयों से उठती है ।

कला कला के लिए कहें तो इससे क्या जीवन का,
मुख मलीन होता, मन में कुछ चोट कहीं लगती है,
कला पुष्प खिलता जिस द्रुम पर उसकी मूल शिराएं,
जीवन में यदि नहीं, कहाँ पर और गड़ी होती हैं ?

'कला कला के लिए' सिद्धान्त की रट लगाकर शुद्ध 'कलावाद' की उपासना करने वालों को भी कवि एक चेतावनी देता है :

कला नहीं वह फेन, हवा में जो उड़ता फिरता है
डरा हुआ सूखी ज़मीन की धूलों से, ज्वाला से,
कला बैठती वहाँ, जहाँ से सभी ज्ञान चलते हैं,
और वहाँ भी जहाँ सभी ज्ञानों का लय होता है ।

और, तब कवि अपनी कला का सही स्वरूप उद्घाटित कर देता है । वह कला की अपनी व्याख्या करता है :

इसीलिए, जब कला बोलती, सिन्धु गरज उठता है,
स्याही की बूँदों में द्वादश सूर्य धधक उठते हैं।
कला नहीं खण्डन जीवन का, वह उसकी स्वीकृति है।

ऐसी कला की भी एक सीमा है। रंगों और शब्दों की लपेट के भीतर जो कुछ भी आ सकता है, उसे कला बिखेर देती है। किन्तु, बहुत कुछ ऐसा शेष रह जाता है, जिसे शब्द नहीं उतार पाते, पर कला अपने मौन द्वारा उस सबको भी कह देती है। कवि की दृष्टि में कला का उद्देश्य रस के इसी गहरे सिन्धु में उतार ले जाना है।

जहा पहुंच फूटते न कोई बोल कला के मुख से,
रह जाती निर्वाक्, ठगी की ठगी, महाविस्मय में,
घोर मूकता में कहती सब कथा विना शब्दों के,
जो शब्दों में किसी भाँति भी कही नहीं जाती है।

और, वह महासिन्धु है—**नीरव आनन्द** का, जिसमें कर्म डूब जाता है। यह नीरवता का सिन्धु ही **अकर्म सिन्धु** है!

शब्द मौन में, रव नीरव में, स्वर विलीन निःस्वर में,
मानो, कर्म अकर्म-सिन्धु में आकर डूब गया हो।

इस प्रकार यह कविता केवल उपयोगितावाद का ही विवेचन नहीं करती, बल्कि कवि की कला दृष्टि को भी अधिक स्पष्ट करती है।

छन्द, भाषा और अलंकार की दृष्टि से भी इसका अपना महत्व है। यदि इस विषय में संक्षेप में कुछ कहना हो, तो यही कहा जा सकता है कि शैली में यह कविता 'उर्वशी' की याद फिर से दिला देती है। इसमें भाषागत दृष्टि से 'परशुराम की प्रतीक्षा' की भाषा का प्रभाव है। कम से कम इसमें नवीन कुछ विशेष नहीं है।

अन्य कविताएं—इस संग्रह में अन्य ४१ कविताएं भी हैं, जो शैली और विचारतत्व की दृष्टि से, अन्तिम कविता की भाँति ही, महत्वपूर्ण हैं। विस्तार में वे अवश्य ही 'लघु' हैं। यदि अन्तिम कविता को प्रबन्धत्व पर आधारित कहा जाय, तो ये कविताएं शुद्ध रूप में 'मुक्तक' कही

जानी चाहिएं। 'पुरानी और नई कविताएं' एवं 'दिनचर्या' कुछ लम्बी हैं। 'पुरानी और नई कविताएं' से इस संग्रह का आरम्भ होता है। इसमें कवि जनरुचि और साहित्य-रुचि के बीच अपनी दुविधा को स्पष्ट करता है। 'दिनचर्या' कविता का महत्व 'कोयला और कवित्व' से कम नहीं है। **आरम्भ** की कविता में कवि 'शैली' के प्रति अपना रुझान बताता है। **अन्तिम** में उसने 'कला' और 'उद्देश्य' के विषय में अपना मन्तव्य प्रकट किया है। 'दिनचर्या' में उसके राजनैतिक विचार स्पष्ट हुए हैं। कवि इसमें यूँ तो 'दिनचर्या' का वर्णन ही करता है, परन्तु, इसका महत्व पार्लियामेंट में होने वाली बातचीत के कारण है। इसमें कवि ने अपनी राजनैतिक विचारधारा को स्पष्ट किया है। वह अब भी समाजवादी है, परन्तु उसके समाजवाद को हम कह सकते हैं :

सोशलिस्ट ही हूं, लेकिन कुछ अधिक जरा देशी हूं।

'कला और कर्त्तव्य', 'काल', और 'विज्ञान' शीर्षक कविताएं अत्यधिक विचार प्रधान हैं। इस पर भी सत्य यह है कि इनमें सर्वांगीण विचार व्यक्त नहीं हुए हैं। केवल एक भावना-विशेष ने कवि को प्रभावित किया और वह जिस विचार-सरणि पर भी बढ़ चला, वही इनमें व्यक्त हो गई। इस प्रकार विचार-प्रधान होकर भी ये कविताएं एकांगी हैं।

किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि अन्य कविताओं में कोई विचार मुख्य नहीं रहा है। सत्य यह है कि अन्यत्र भी इसी प्रकार के क्षण-प्रभाव की प्रतिक्रिया में व्यक्त एकांगी, किन्तु उत्तेजक, विचार संनिहित हैं। 'तसवीर', 'चुनौती', 'श्मशान', 'अतिथि', और 'सौन्दर्य' आदि कविताएं इसी प्रकार की हैं। 'बोरिस पास्तरनेक' कविता में कवि की स्वतन्त्र चेतना के दर्शन होते हैं। कवि पास्तरनेक पर बन्धन को एक चैलेन्ज मानकर चलता है। उसकी भावना इन शब्दों में स्पष्ट हो जाती है :

पर, लौह फाँस में हों सबके जब पंख बंधे,
तब उस शकुन्त की जय बोलो, जिसके स्वर में,

भर उठे व्योम, बन्दी युग का प्राचीर तोड़,
सारी शताब्दियाँ उमड़ सिन्धु सी छाजाएं ।।
तम में प्रकाश झनझना उठा, आ रहा काल,
भौतिक प्रतिमा में आत्मा के अभिषेक का ।।

'कला और कर्त्तव्य' में कवि प्रायः 'कोयला और कवित्व' की भावना को ही नहीं दोहरा रहा है। वस्तुतः यहां किसी 'विवाद' की चर्चा भी उसका ध्येय नहीं रही है। वह आत्म-विश्लेषण में ही लीन रहा है। संक्षेप में ही उसने यह बताया है कि किस प्रकार वह स्वयं मूलतः अनल का कवि होकर भी 'उर्वशी' में कोमल भावनाओं के विश्लेषण में डूब गया था। किन्तु, समय आया जब उसे फिर से पुराने स्तर को अपनाना पड़ा। कवि की मूलवृत्ति ही वह थी। उसे छोड़ना ही मानो त्रुटि थी ।:

तब जाने क्या हुआ, जहाँ थी आग,
वहाँ नन्हीं-नन्हीं कुछ दूब निकल आई ;
सरसी में भर गया अलक्तक राग,
तीर पर खड़ी, नहा कर, परियां मुसकाई ।

किन्तु, आज—

सूख गई है दूब, झुलस कर मुरझा गया कमल है ।
अप्सरियो ! मत छुओ, झील का सलिल नहीं शीतल है ।
तुम से मुझे वियुक्त, काल का कोप किये जाता है ।
कला नहीं, कर्त्तव्य, छाँह से दूर लिए जाता है ।

इस प्रकार 'कला' और 'स्वधर्म' की वही चर्चा, जो 'कोयला और कवित्व' में हुई थी, यहां भी दोहराई गई है।

'काल' कविता में कवि अपनी आयु के पचपनवें वर्ष की समाप्ति पर विचार मग्न हो उठा है। पहले तो वह अपनी विवश स्थिति की चर्चा करता है :

अब ठण्डी हो चली आयु की आग,
जवानी का सूरज ढलता है।

बाकी है जो अनल-तत्त्व का राग,
बहुत धीरे-धीरे जलता है।

पर, तभी उसकी भावनाएं भावी जीवन की ओर आशा के साथ मुड़ पड़ती हैं। उसे विश्वास है कि अभी सूरज की आग ठण्डी नहीं पड़ी है। ग्रहण की तत्परता, हो तो आयु भी बाधा नहीं बन सकती।

शतदल के भीतर भर ले प्रति प्रात,
सूर्य का कण जो भी मिलता हो।
हृदय खोल, जी भर कर उससे बात,
सामने जो भी क्षण मिलता हो।
जैसे कवि के रश्मिदूत बिखरी किरणों के कण हैं,
काल पुरुष के उसी भांति ये क्षण विश्वस्त श्रवण हैं।

'विज्ञान' कविता में किसी सिद्धान्त या विवाद-विशेष की चर्चा नहीं है। उसमें कवि ने उस भावना को बाँधा है, जो उसके मन में, वैज्ञानिकों द्वारा विज्ञान से होने वाले सम्भावित विनाश के प्रति शंकाशील होकर विचारमग्न होने के कारण, जगी है। कवि इसे एक शुभ लक्षण मानता है। विज्ञान अपने उग्र और उद्दण्ड रूप को छोड़कर यदि किंचित् विनम्र रूप ग्रहण कर सके, तो यह एक शुभ लक्षण ही है।

शंका करने लगे स्वयं पर यह क्या कम है ?...
जितनी खुशी मानव की अन्तरिक्ष की जय से,
उससे बढ़कर हर्ष भौतिकी की नम्रता विनय से ॥

इनके अतिरिक्त शेष कविताओं में भी अनेक सुन्दर भाव उपस्थित हैं। 'श्मशान' में कवि का सांस्कृतिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक अध्ययन एकाकार हो उठा है। वह कहता है—

पता नहीं, हम नया जन्म लेते हैं या मरते हैं।
कौन कहे, स्रष्टा ही हो, जो हमें दीखता यम है।

'सौन्दर्य' में कवि कुछ अधिक गहरे से अनमोल बात ले आया है :

एकाकिनी नहीं तुम, कोई शिखा और जलती है।

किसी शक्ति की किरण, तुम्हारे संग-संग चलती है ।
और नहीं तो क्यों न सुलगती तृषा अंक भरने की ?
क्यों जगती है तुम्हें देख इच्छा पूजा करने की ?

इस प्रकार यह 'संग्रह' कोई हलका प्रयास न होकर गहरी अनुभूतियों और विचारों का संग्रह है । इसका मूल्य कला और भावना दोनों दृष्टियों से ही उपयोगी है ।

आत्मा की आँखें

डी० एच्० लॉरेन्स को प्रायः उन्मुक्ततावादी अथवा प्रकृतिवादी स्वीकार किया गया है । उपन्यासकार के रूप में उनकी जो उन्मुक्त भावनाएं मानव की मूल और प्रकृतिगत भावनाओं पर प्रकाश डालती हुई सामने आई हैं, वे ही उसकी काव्य-भावनाओं के रूप में भी व्यक्त हुई हैं । दिनकर मानव-प्रकृति की मूल-भावनाओं के प्रेमी रहे हैं । उन्हें लॉरेन्स की उन्मुक्तता पसन्द आई है । अतः उन्होंने यहां उनकी उन भावनाओं पर आधारित कुछ स्वतन्त्र रचनाएं प्रस्तुत की हैं । इन्हें 'भावानुवाद' कहना उचित ठहरता है । **अनुवाद** इन्हें नहीं कहा जा सकता । इनमें 'मशीन की कामयाबी' कविता कुछ लम्बी है । अन्यथा शेष सभी कविताएं लघु ही हैं । इन सब में ही लेखक की वैयक्तिक भावनाएं व्यक्त हुई हैं ।

हम कह सकते हैं कि लॉरेन्स इनमें पाश्चात्य भौतिकवाद की भावनाओं से प्रभावित रहा है । पर सत्य यह नहीं है । सत्य यह है कि उसने यथार्थ को 'सच्चे यथार्थ' के रूप में ही लिया है । वह युक्तिक्रम को घुमाने या मोड़ने का हामी बनकर नहीं रह गया है । उसने प्रत्येक विषय में भावना के सहज रूप को लिया है । 'दिनकर' की मूल भावनाएं इस विषय में सर्वथा भिन्न नहीं हैं । उनके अपने भाव इनमें स्थान-स्थान पर लॉरेन्स के भावों को प्रभावित करने अथवा उन्हें एक नया रूप प्रदान करने में समर्थ रहे हैं ।

भाषा इनमें जन अनुकूल और सीधी-सादी रही है । कारण पहले दिया जा चुका है : विषय जन-जीवन एवं जन-धारणा के एकदम निकट

के हैं। उनमें गम्भीर विचारों या अनुभूतियों की पुट भी नहीं है। फिर, गहनतम अनुभूतियों को भी सरल रूप में स्पष्ट किया गया है। भावना के आवेग की अपेक्षा, मन पर पड़े प्रभाव को ही मुख्यता दी गई है। इस लिए 'दिनकर' भाषा के विषय में अपने ढाँचे से उतर आए हैं। इस 'संग्रह' से पूर्व भी 'दिल्ली', 'परशुराम की प्रतीक्षा', आदि की अनेक कविताओं में ऐसी ही सरल भाषा प्रयुक्त हुई है। केवल कुछ गिने-चुने स्थलों पर ही भाषा में उर्दू के कुछ कठिन शब्द आए हैं। एक-दो स्थान पर अंग्रेज़ी के शब्द भी आए हैं। उन्हें अनावश्यक भी कहा जा सकता है। पर अनुवाद या भावानुकरण में कवि प्रायः बहुत अधिक उन्मुक्त रह कर नहीं चलता। पर, इस पर भी इसमें प्रयुक्त शब्द अपने-अपने स्थान पर अत्यधिक उपयुक्त लगते हैं। विषय-प्रवाह में वे शब्द ही उपयुक्त बैठते हैं।

छन्द-शैली का प्रयोग भी विचारणीय है। कवि ने मुक्त-छन्दों का ही प्रयोग किया है। पर लय और यति पर कवि का वल रहा है। एक ही कविता में भी क्रम बदला है। पर इस पर भी यति ने एक सौन्दर्य, उत्पन्न कर दिया है।

'पहले तन या मन' में ईसा का उदाहरण देकर कवि अपने दृष्टि-कोण को स्पष्ट करता है। उसे 'अनात्मवादी' कहना बुरा होगा। वह तो आत्मा के सामने तन को महत्वहीन नहीं कर देना चाहता।

दर्शन की अपेक्षा धर्म अधिक जानता है।
इसीलिए तो यह बात, वह विश्वास के साथ मानता है,
कि ईसा ईसा थे ही नहीं, न उन्होंने किसी को रोगमुक्त किया;
जब तक किसी मानवी ने उन्हें अपनी कोख से जन्म नहीं दिया।
ईसा शरीरवान् थे, गरचे सीमित उनकी आवश्यकताएं थीं।
आत्मा पवित्र और निर्मल सारी इच्छाएं थीं।

'पुराने जमाने के मर्द' में कवि मानव के प्रकृत और बलशाली रूप की उपासना करता है। 'मुझसे भी कहा था' में भी वह मानव के प्रकृत

सौन्दर्य और बल की ही उपासना करता है। **'रहस्यवाद'** को सरलतम रूप में, **आम खाने** के उदाहरण से समझाकर, कवि कहता है :

खाते समय सभी इन्द्रियों को बुलाओ !
एक इन्द्रिय से कभी भी कोई चीज़ मत खाओ।
सभी इन्द्रियां जब एक बिन्दु पर मिलती हैं,
एकाग्रता जन्म लेती है।
और तब रोटी भी रहस्यवाद का मज़ा देती है।

दूसरे शब्दों में, **'रहस्यवाद'** है प्रत्यक्ष से परे की बात को देख पाना।

'पाप' कविता में लॉरेन्स की वह भावना सामने आई है, जिसमें वह पाप को पुरानी परम्परागत परिभाषा से मुक्ति देकर उसे नया रूप देता है। कवि उसे ही भारतीय शब्दावली में कह देता है :

इसलिए अगर हम
अपनी गम्भीरतम चेतना के खिलाफ़ जाते हैं,
तो हम पापी हैं।
क्योंकि हमारे भीतर जो असली तत्व है,
उसे हम बेवकूफ़ी में गँवाते हैं।

'पाप से भागो' में कवि फिर से पाप की परिभाषा देता है—

पाप है ज्ञान को अमूर्त्त बनाना,
अर्थ-पद्धति को उस तरह समझाना
जिसे समझता तो कोई नहीं, लेकिन, सब मानते हैं,
बिना समझे बूझे, उसका महिमा बखानते हैं।
विज्ञान का अमूर्त्तीकरण पाप है।
शिक्षा में से, मानवीयता का हरण पाप है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि किस पाप से भागने को कहता है।

'व्यक्तित्व' कविता में 'तू' और 'मैं' के बीच बनी रहने वाली दूरी का बहुत सुन्दर चित्रण किया गया है—

मन ही मन सोचता हूं यह भी कैसी मजबूरी है।

सारी दुनिया खत्म हो चुकी, मगर तब भी कहीं शेष एक दूरी है।

'हाथ की कारीगरी' का महत्व कवि ने किसी और ही रूप में आँका है :

हाथ की कारीगरी की खुसूसियत यह है,
कि कारीगर के गुज़र जाने पर भी
उसकी चीज़ों में जान बाकी है।

'विनम्रता' की इससे अधिक अच्छी व्याख्या और क्या होगी :

लेकिन, जब किसी भी आदमी के भीतर
मैं रोशनी की लपट
या जीवात्मा की तड़प पाता हूँ,
तो उसे बुलाता नहीं, उसके पास मैं खुद जाता हूँ।

'बीमारी का इलाज' में कवि ने वास्तविक रोग को पहिचान लिया है।

मैं बीमार इसलिए हूँ
कि मेरी आत्मा को चोट लगी है;
भावनाओं की अज्ञात गहराई में
कहीं कोई वेदना जगी है।

इलाज भी उसने पहिचान लिया है—

कांटे अगर आत्मा से निकल गए,
पीड़ा आप से आप मरेगी।
और किसी भी उपाय से
हालत नहीं सुधरेगी।

'प्राचीन ज्ञान' में समुद्र के पानी और प्यासे के उदाहरण के द्वारा उसने तद्विषयक अन्ध-भक्ति को निन्दित ठहराया है।

'मशीन की कामयाबी' को **मानवता का गीत** कहा जा सकता है। आज के यन्त्रवाद और विज्ञान ने मानवता को दबा दिया है। किन्तु, कवि का विश्वास है कि अन्ततः विजय मानवता की ही होगी।

लोग मशीन की कामयाबी की बात करते हैं,
लेकिन, यह कामयाबी टिकेगी नहीं ।
इन्सान, लाचारी से, उसका पुर्जा बन गया है,
मगर, इन्सानियत हमेशा के लिए बिकेगी नहीं ।

'सरकार और मज़दूर' में भी कवि समाजवाद की अपेक्षा मानवतावाद से अधिक प्रभावित रहा है । मज़दूर सरकार से कहते हैं—

मज़दूरी घटती है,
और हम तकलीफ़ पाते हैं ।
तब भी रोटी से ज्यादा
हम तुम्हारे प्रेम के लिए ललचाते हैं ।

इस प्रकार इन कविताओं में कवि मानवतावाद से अधिक प्रभावित रहा है । उसकी बात समाजवाद की भाषा में न तो समझाई गई है, न उसमें उन आदर्शों का प्रचार है ।

इन दोनों के अतिरिक्त तीसरा प्रकाश्य संग्रह 'मृत्ति-तिलक' है । इस में अनेक फुटकर और प्रासंगिक रचनाएँ संगृहीत हैं । रूसी प्रधान मन्त्री ख्रुश्चेव के भारत आगमन पर सन् १९५६ में लिखी गई कविता भी इसी में है । पर विचार की दृष्टि से इस संग्रह पर अलग से लिखने को विशेष कुछ नहीं है । विकास-क्रम की दृष्टि से इसे एक विशेष 'ऐक्य' वाला काव्य भी नहीं कहा जा सकता । फिर भी प्रत्येक कविता अपना महत्व रखती है, तथा पठनीय और मननीय है ।

—

१३

भाषा और कला

प्रतिनिधि—आज हिन्दी साहित्य में यदि किसी कवि को प्रतिनिधि कहना हो, तो निःसंकोच 'दिनकर' को कहा जा सकता है। 'प्रसाद' के उठने के बाद से प्रायः कोई भी कवि **प्रतिनिधि** के रूप में सामने नहीं आया। **गुप्तजी** 'प्रसाद' से पहले युग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। **पन्त** और **महादेवी** स्वयं प्रसाद के युग के प्रतिनिधि कवि ठहरते हैं। इसलिए जब हम **'प्रसाद' के बाद** की बात करते हैं, तो इनमें से किसी एक का नाम नहीं लिया जा सकता।

पृष्ठभूमि—प्रसाद के वाद काव्य की जो धारा वलवती हुई, उसे **प्रगतिवाद** कहा जाता है। द्वितीय महायुद्ध के समय से ही **प्रयोगवाद** की एक लहर भी चली। इसको हिन्दी के कुछ अच्छे युवक कवियों और विचारकों का योगदान मिला। पर इस पर भी कोई एक **प्रतिनिधि कवि** सामने न आ सका। इसका कारण यही था कि कवियों के पास **अपना** कुछ कहने को अधिक न था। वे जग-देखी और जग-सुनी बात कहने को अधिक आतुर थे। ऐसे समय कविता को बाहर से बहुत कुछ नहीं मिल सकता था। क्योंकि, जो कुछ मिलता था उसमें देश की रुचि और प्रकृति के अनुकूल बहुत थोड़ा होता था। इन कवियों ने देश का ओर उसकी परिस्थितियों का अधिक ध्यान नहीं रखा था। परिणाम यह कि उनकी कविता अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनों से तो अधिक प्रभावित रही, किन्तु उसमें राष्ट्रीयता और देश प्रेम की बात उतनी मुख्य न रह पाई। यह बात तब और भी बेतुकी हो उठती है, जब हम इसके समानान्तर चलने वाली **राष्ट्रीय कविता** पर नज़र डालते हैं। वह कविता भी निरी एकांगी ही

बन गई थी। उसमें अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को भुलाकर केवल **राष्ट्रीय** बातों का ही ध्यान रखा गया था। परिणाम यह हुआ कि वह कविता बहुत सीमित दायरे में बढ़ने लगी। **राष्ट्रीयता का अर्थ केवल स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति सहानुभूति से ही लिया गया।** उसमें किसी भी प्रकार की अन्य सामाजिक या राजनैतिक समस्या को नहीं लिया गया। इसलिए उसमें कूप-मंडूकता का भाव आता गया।

'दिनकर' एक ऐसे मोड़ पर खड़े हैं, जहां हम उन्हें एक ओर राष्ट्रीय कवियों का प्रतिनिधि पाते हैं। और, दूसरी ओर, उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय **वादों** का अनुसरण करने वाले कवियों से पीछे भी नहीं पाते। उनकी विचार-धारा अत्यन्त स्पष्ट है, और उनके विचारों का दायरा अत्यधिक व्यापक है। वे किसी एक 'वाद' में फँसकर उसी के अन्धानुगामी नहीं बन जाते। हम उनके काव्य में सभी प्रवृत्तियों के दर्शन पाते हैं।

जनभाषा—यह बात इसलिए आवश्यक है कि 'दिनकर' की भाषा की पृष्ठभूमि इसी सब आधार पर बनी है। इन बातों को समझे बिना 'दिनकर' के काव्य और उसकी भाषा को ठीक से न समझा जा सकेगा। उनकी भाषा में **प्रगतिवादियों की सी स्पष्टता** और उनके प्रयोगों में **प्रयोगवादियों की सी नवीनता** भी पाई जाती है। किन्तु, साथ ही **प्रसाद** और **गुप्त** का अनुकरण भी स्थान-स्थान पर स्पष्ट दिखाई देता है। वे स्वयं अपनी भाषा को द्विवेदी युग और छायावादी युग की मिली-जुली भाषा कहते हैं। उनकी दृष्टि में भाषा का प्रयोजन कवि के विचारों को स्पष्ट करना है, न कि उन्हें और जटिल बना देना। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में आरम्भ से ही अलंकार आदि के ऐसे बोझ को बचाने का यत्न किया है, जिससे कविता के भाव कुछ छिप जाएं। इसके विपरीत उन्होंने आरम्भ से ही, **कला** और **भावना** को एक दूसरे का पोषक मानकर **कला को भावना के अनुरूप ही** रखने का प्रयत्न किया है।

भाषा : स्वरूप—दिनकर की भाषा आरम्भ से ही विषयानुरूप रही है। आरम्भ से ही उसकी भाषा में गुप्त जी और छायावादी कवियों के

समान संस्कृत के शब्दों की प्रचुरता रही है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि उसके काव्य के विषय प्रगतिवादियों के से रहे हैं, पर तो भी उसकी भाषा उनके समान उर्दू के स्तर पर नहीं उतर सकी। प्रगतिवादियों और कांग्रेस के नेताओं ने जन-भाषा के नाम पर बहुत कुछ सस्तापन, भाषा के क्षेत्र में, लाना चाहा था। 'दिनकर' के विषय आरम्भ से ही जन-प्रिय और लोकानुरूप रहे हैं। इस पर भी उसे कभी ऐसी भाषा खोजने में प्रयास और श्रम नहीं करना पड़ा, जिसे जनता समझ सके। कविता, अपने विषय के प्रवाह में, जिस भी रूप को धारण करके बाहर आती है, ग्रहण करने वाले उसे उसी रूप में समझ लेते हैं। आखिर, थोड़ा सा हिन्दी पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही किसी कविता को समझने में समर्थ हो सकता है। इसलिए कतई अपढ़ लोगों की भाषा के शब्दों के प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। और, फिर यदि वे शब्द प्रयोग भी कर लिए जाएं, तो भी वह भाषा प्रगतिवादियों के स्तर की नहीं बनती। उन दोनों में फिर भी एक अन्तर—विषय की अनुरूपता का—रहता है। सामान्य जनता के स्तर की बात तभी कही जाती है, जब हम कविता को किन्हीं विशेष सामाजिक या दूसरे आन्दोलनों का माध्यम समझ लेते हैं। पर, वास्तव में कविता स्वयं में, अभिव्यक्ति का माध्यम होकर भी, किसी आन्दोलन विशेष का माध्यम नहीं बनती। और यदि वह ऐसी बन जाय, तो समय बीतने के बाद उसका महत्व स्थायी नहीं रह जाता।

हमारा अभिप्राय यह नहीं कि जन-भाषा का अनुकरण होना नहीं चाहिए। कवि यदि बड़े से बड़े भाव को भी सरल से सरल शब्दों में कह सके, तभी उसका महत्व होता है। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि उन सरल शब्दों के चुनाव के लिए रुककर और अटककर कवि कविता का आनन्द ही समाप्त कर दे। वास्तव में 'दिनकर' की कविता में ऐसी सरल शब्दराशि बहुत अधिक मिलती है। सच तो यह है कि, 'कुरुक्षेत्र' तक उसकी भाषा बहुत सरल रही है। वहां तक उसने बड़े से बड़े विचारों को सरल शब्दों में कहा है। परन्तु, फिर भी उसके साथ

ही उसने भाषा को इतना सरल बनाने का प्रयत्न नहीं किया है कि उसमें कुछ गहराई ही न आ सके। दिनकर जन-कवि होने पर भी मूलतः विचारक रहे हैं। इसलिए विचारों के क्षेत्र में विचरते हुए उन्हें नयी से नयी बात कहने के लिए संस्कृत के शब्द-कोष से पूरी सहायता लेनी पड़ी। यहां एक आध उदाहरण ही पर्याप्त रहेगा।

लेकिन, जीवन जड़ा हुआ है, सुघर एक ढाँचे में,
अलग-अलग वह ढला करे, किसके-किसके साँचे में ?

इस पद्य में भाषा का एक-एक पद सरल है, जबकि एक और पद्य में कुछ पारिभाषिक शब्द आ गए हैं।

प्रमुदित पाकर विजय, पराजय
देख खिन्न होता है,
हंसता देख विकास, ह्रास को
देख बहुत रोता है।

कठिन या सरल—इस प्रकार भाषा की कठिनता या सरलता वक्तव्य-विषय पर आधारित रहती है। यदि विषय कुछ कठिन है, या विचार कुछ गहरे हैं, तो भाषा कठिन भी हो जाती है। संस्कृत-शब्दों की ओर झुकाव का एक प्रमुख कारण यह है कि सहस्रों वर्षों से हमारे चिंतन का सारा प्रवाह उसी भाषा के द्वारा रहा है। उसके शब्द हमारे सारे चिंतन पर छाए हुए हैं। यह बात समझ कर ही हम जान सकेंगे कि 'दिनकर' जैसा विचारक कवि क्यों भाषा को जानबूझ कर सरल नहीं बना पाया। यह सारी बात हमें इसलिए कहनी पड़ी कि एक विदेशी आलोचक ने 'दिनकर' की 'उर्वशी' पर विचार प्रकट करते हुए यह कहा है कि उसमें शब्द बहुत कठिन आगए हैं। यह बात कतई ठीक है। पर साथ ही यह भी ठीक है कि उस सारे वातावरण में भाषा के किसी और रूप से काम भी नहीं चल सकता था। इस विषय में हम उस काव्य के तृतीय अंक की ओर इंगित करना चाहेंगे।

छंद—भाषा के स्वरूप पर विचार करने के बाद अलंकारों और

छंदों पर एक दृष्टि डाल लेना भी उचित ही होगा। कवि की विचार-प्रधान कृतियों में 'उर्वशी' का स्थान सबसे ऊंचा है। हम उसकी विवेचना करते हुए यह बता आए हैं कि उसमें छंदों के चुनाव की बहुत अधिक विविधता रही है। इससे पहले उसकी प्रमुख रचना **'कुरुक्षेत्र'** में तो प्रत्येक सर्ग में तीन या चार छंदों का परिवर्तन तक हुआ है। **'रश्मिरथी'** में छंद परिवर्तन की यही मात्रा पाई जाती है। 'उर्वशी' में लयात्मक छंद अधिक हैं। परन्तु, उसमें मुक्त-छंदों का प्रयोग भी बहुत अधिक हुआ है। यूं तो गीति-तत्व की दृष्टि से 'उर्वशी' की अपनी महत्ता है; पर तो भी उसके मुक्त छंदों और स्वतन्त्र गीतों का अपना महत्व कम नहीं कहा जा सकता। शेष अंश विशेष छंदों में ही बंधा हुआ है। वे छंद वर्णनात्मक प्रसंगों में प्रयुक्त हुए हैं। कवि एक **'नाट्य-काव्य'** को लिखते हुए कथोपकथन का जितना प्रयोग करता है, उस सारे को गीतों के द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। इसलिए हमें 'गेय-छंद' और 'गीतिकाव्य' में अन्तर समझना चाहिए।

'कुरुक्षेत्र' में स्थिति कुछ भिन्न है। वहां सारा काव्य ही वर्णनात्मक ढंग पर चला है। इतना होने पर भी वहां प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग नहीं हुआ है। **हर सर्ग में हम कम से कम तीन छंदों का प्रयोग पाते हैं।** इतना ही नहीं, उनमें से अधिकांश छंद संस्कृत के ही वार्णिक-छंद हैं। एक ओर कवि ने **कवित्त** जैसे लम्बे वार्णिक छंदों का प्रयोग किया गया है, और दूसरी ओर वह आधुनिक ढंग के मुक्त छंदों का भी प्रयोग करता है। सारा छठा सर्ग मुक्त छंद में ही चला है।

कहा जा सकता है कि इस विषय में कवि विद्रोही नहीं रहा। परन्तु ऐसा विद्रोह यहां अपेक्षित भी नहीं था। किसी भी काव्य में विषय को स्पष्ट करना अधिक आवश्यक है। वह जिस भी रूप में अधिक स्पष्ट हो सके, कवि की शैली की पूर्णता उसी रूप में है।

अलंकार और शब्दशक्ति—अलंकारों के विषय में हम पहले भी कह आए हैं कि 'दिनकर' **जन** और **जीवन** का कवि होने के कारण

कल्पना की रंगीनियों में अधिक नहीं उलझा है। इसीलिए वह **लक्षणा** के प्रयोगों में अधिक नहीं रमा है। जन-जीवन की कटुता ने उसकी वाणी में व्यंग्यात्मक स्वर को अधिक तीखा कर दिया है। इसलिए व्यंजना का प्रयोग स्वाभाविक ही हो जाता है। यह बात सौभाग्य से कविता की मूल प्रकृति के अधिक अनुकूल रही है। संस्कृत के श्रेष्ठतम आलोचकों ने व्यंजना और ध्वनि के प्रयोगों को अधिक उचित माना है। पर इसके साथ ही, चोट करने वाला कवि अपनी बात को कई बार सीधे से कह कर अधिक चोट कर जाता है। आचार्य शुक्ल जी के अनुकरण पर हम कह सकते हैं कि कवि का लक्ष्य मार्मिक तथ्य का उद्घाटन करना होता है। यह उद्घाटन कई बार बात को सीधे से और सरल रूप में कहकर अधिक पूरी तरह और अधिक प्रभावशाली ढंग से किया जा सकता है। 'दिनकर' को इन दोनों ही बातों में पूरी सफलता मिली है। उसने लक्षणा और उससे आने वाले उपमान आदि के चक्कर में फँसे बिना, शेष दोनों—**अभिधा** और **व्यंजना**—शक्तियों के प्रयोग द्वारा अपनी बात को अधिक स्पष्ट किया है।

परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं कि दिनकर ने अलंकारों का प्रयोग किया ही नहीं। हम 'कुरुक्षेत्र' और दूसरे ग्रंथों की विवेचना में यह कह आए हैं कि कवि ने नये से नये उपमानों का चुनाव किया है और उन्हें सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। बात यह है कि कवि अलंकारों को कविता का आवश्यक या अनिवार्य अंग मानकर उनके चुनाव और प्रयोग के लिए कृत-निश्चय होकर नहीं बढ़ता। वह तो अपने वक्तव्य को कहने के लिए अधिक आतुर रहता है। अपना वक्तव्य पूरा करते हुए, अथवा उसे अधिक स्पष्ट रूप में समझाते हुए, यदि उसे कहीं किसी उपमान की आवश्यकता आ पड़ी, तो उसे वह अपने चारों ओर के जन-जीवन से चुनकर प्रयोग कर लेता है। **वह अलंकार को अपनी बात स्पष्ट करने का 'माध्यम' अवश्य मानता है, उसे कविता का 'लक्ष्य' नहीं मान लेता।** उदाहरण के लिए—

दो दिन पर्वत का मूल हिला, फिर उतर सिन्धु का ज्वार गया,
पर सौंप देश के हाथों में, वह एक नई तलवार गया।
जय हो भारत के नये खड्ग, जय तरुण देश के सेनानी,
जय नई आग, जय नई ज्योति, जय नये लक्ष्य के अभियानी। (सामधेनी)

इन दोनों पद्यों में **अन्योक्ति** और **तद्गुण** अलंकारों का प्रयोग हुआ है। परन्तु, इन दोनों का प्रयोग आलंकारिक आवश्यकता के लिए उतना आवश्यक नहीं रहा, जितना कि व्यंजना के ढंग से अपनी बात को समझाने के लिए।

बचो युधिष्ठिर ! कहीं डुबो दे, तुम्हें न यह चिन्तन में,
निष्क्रियता का धूम भयानक, भर न जाय जीवन में। (कुरुक्षेत्र)

यहां डुबाने वाले सिन्धु का वर्णन नहीं है, और न ही धुआँ किसी आग का है। परन्तु, इस पर भी कवि ने अपनी बात को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है।

रात भर, मानो, उन्हें दीपक सदृश जलना पड़ा हो,
नींद में, मानो, किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो।
या, **अंध तम के भाल पर पावक जलाता हूं,**
बादलों के सीस पर स्यंदन चलाता हूं।' (उर्वशी)

इन दोनों पद्यों में से प्रथम में **उत्प्रेक्षा** और द्वितीय में **समासोक्ति** का प्रयोग अत्यन्त सफलता से हुआ है। परन्तु, कवि इनके प्रयोग के बिना शायद अपनी बाद को इतने संक्षेप में पूरी तरह स्पष्ट भी न कर पाता।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवि ने जिन अलंकारों का भी प्रयोग किया है, वे चमत्कार प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त नहीं हुए हैं। उनका महत्व अलंकार-शास्त्र की दृष्टि से भी उतना नहीं है। वास्तविकता यह है कि कवि अपने वक्तव्य को अधिक से अधिक गहरा बनाना चाहता है। और उसके लिए वह **अभिधा** के विस्तार में न जाकर, वक्तव्य को संक्षिप्त रूप में कहने के लिए, एक छोटा मार्ग चुन लेता है। इस छोटे मार्ग में **अन्योक्ति, समासोक्ति,** आदि अलंकार उसके सहायक बन जाते हैं और

वह उनका प्रयोग अत्यंत सफलता से करता है। एक भी अलंकार शायद ही कहीं इस प्रकार का ढूंढ़ा जा सके, जिसे उसने चमत्कार-प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त किया है।

शैली—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कवि की भाषा-शैली अधिक जटिल नहीं रही है। अलंकारों के प्रयोग ने भी उसे दुरूह नहीं बनाया है। यह भाषा विषयानुकूल अधिक रही है। शैली का सम्बन्ध भाषा से ही नहीं है। विषय को प्रस्तुत करने का सम्बन्ध भी उससे ही है। इसलिए जब हम शैली पर विचार करते हैं, तब हमें उसके विचारों को प्रस्तुत करने के ढंग पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

कवि निश्चय ही विचार-प्रधान अधिक रहा है। यह बात अलग है कि उसका विचार दर्शन की बहुत लम्बी गहराइयों में नहीं उतरा है, हालाँकि कोई गहरा विचार उससे छूटा भी नहीं है। सच यह है कि उसने हर विचार को जीवन के क्रियात्मक स्तर पर रख कर ही सोचा है। इसलिए जब वह किसी भी विचार को बहुत अधिक विस्तार से लेता है,तो उसकी शंकाएं और और उनके उत्तर ऐसे स्तर पर बढ़ते हैं, जिन्हें हम **सामान्य जन का स्तर** कह सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि वह विचारों को संक्षेप में अथवा दार्शनिक भाषा में प्रगट नहीं कर सकता; बल्कि यह है कि वह जिन भी विचारों को प्रस्तुत करता है, उनकी पूरी-पूरी छान-बीन करके, और सामान्य जन के हृदय में उठने वाली शंकाओं पर पूरा-पूरा विचार करके, उन्हें ग्रहण-योग्य बनाते हुए प्रस्तुत करता है। यही उसकी विशेषता है। उसके युक्ति क्रम में न तो दार्शनिकों की सी और न ही प्रगतिवादियों की सी पुनरावृत्ति आती है। बल्कि, हर स्तर पर वह एक नई बात कहता हुआ प्रतीत होता है। वह समस्या को किस गहराई और विस्तार तक ले जाता है, यह बात 'कुरुक्षेत्र' से अधिक स्पष्ट हो जाती है। 'उर्वशी' में भी उसने मूल समस्या को इसी भाँति गहराई और विस्तार के साथ उठाया है। वह जानता है कि जन-स्तर का अर्थ यह नहीं है कि उनकी भाषा के सामान्य शब्दों में कविता की जाए; बल्कि यह

कि उनके दिल में उठने वाली हर शंका का सही उत्तर दिया जाए। यही उसके **काव्य** तथा **काव्य-शैली** की विशेषता रही है।

तुलनात्मक अन्तर—यहीं कवि का 'प्रसाद' से अन्तर आ जाता है। **प्रसाद** समास-शैली के सर्व प्रमुख कवि स्वीकार किए गए हैं। निराला भी इसी प्रकार के कवि थे। परन्तु, दिनकर को, उनकी अपेक्षा, व्यास अथवा विस्तार-शैली का प्रमुख कवि माना जा सकता है। 'प्रसाद' संक्षेप में ही अपनी बात पूरी कर देते हैं, परन्तु 'दिनकर' अपनी बात को समझाकर कहते हैं। 'गीत अगीत कौन सुन्दर है'—यह गीत उनकी शैली का सबसे अच्छा उदाहरण है। 'प्रसाद' ने भी कामायनी में अपने वक्तव्य को बहुत विस्तार के साथ प्रगट किया है, यद्यपि शैली वहां भी समास ही रही है। 'दिनकर' का लक्ष्य भी भारतीय संस्कृति की, और जन-धारणाओं की, एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करना रहा है। इसलिए, उसके लिए यह विस्तार और भी अपेक्षित हो जाता है।

शैली का एक विशेष गुण शुक्लजी ने नाद-सौन्दर्य को स्वीकार किया है। उसका अर्थ अनुप्रास-बहुल भाषा से बैठता है। अनुप्रास कई प्रकार का हो सकता है। रस की अनुकूलता जगाने के लिए यह अनुप्रास अत्यधिक आवश्यक हो जाता है। 'दिनकर' इसके प्रयोग में किसी से पीछे नहीं है। पर, युद्ध और शृंगार के इस कवि की कविता में से, अकेली युद्ध की कविता ही अनुप्रास का आनन्द दे पाई है। अनेक सतेज स्थलों पर कवि की लेखनी स्वयं ही अनुप्रास-बहुल भाषा को बहाने लगती है। परन्तु दूसरे अनेक स्थानों पर, विशेष कर शृंगार के क्षेत्र में, कवि भाषा की दृष्टि से— और विशेषकर अनुप्रास की दृष्टि से— कदाचित् असफल रहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह शृंगारी कवि नहीं है, बल्कि यह तो उसकी प्रकृति या स्वाभाव की व्याख्या अधिक करता है। वह स्वभावतः शृंगार का कवि नहीं है। यह बात तब और अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हम यह देखते हैं कि शृंगार सम्बन्धी कविता में भी वह विचारों की गहराई में अधिक उतर जाता है। युक्ति-जाल के इस

विस्तार का एक कारण यह है कि यथार्थ की प्रेरणा ने उसे, भावुक न रखकर, विचारक अधिक बना दिया है। इसका ही यह परिणाम है कि उसके वक्तव्य में युक्तियों की अधिकता रहती है, और वह भावावेश में पड़ कर अपने को उन्मुक्त होकर बहने नहीं देता। संस्कृति पर गहराई के साथ विचार करने वाला यह कवि मूलतः **युग-द्रष्टा कवि** अधिक रहा है, भावावेश में वह निकलने वाला **सामान्य कवि** नहीं।

शैली का विवेचन करने पर कवि की एक और विशेषता यह ठहरती है कि **वह जहाँ अपनी बात पर बल देना चाहता है, वहाँ वह स्वीकारात्मक पक्ष के साथ-साथ निषेधात्मक पक्ष को भी कहता हुआ चलता है।** जब वह 'परशुराम की प्रतीक्षा' में अग्नि या अन्य किसी बात की परिभाषा देता है, अथवा किसी अन्य सत्य का उल्लेख करता है, तब इन दोनों बातों का रूप हमारे सामने अधिक स्पष्ट हो जाता है। इससे उसके वक्तव्य में अधिक बल आ जाता है। उदाहरणार्थ—

> **यह नहीं शान्ति की गुफ़ा, युद्ध है**
> **तप नहीं, आज केवल तलवार शरण है।**

और, **भव को न अग्नि करने का क्षार बनी थी,**

> **रखने को, बस उज्ज्वल आचार बनी थी।**

इन दोनों ही स्थानों पर कवि ने इस निषेधात्मक और स्वीकृति-परक युक्ति का मिला-जुला रूप प्रस्तुत कर अपनी बात को बलशाली ढंग से कहा है। एक और उदाहरण इस बात को और अधिक स्पष्ट कर देगा :

> **उद्देश्य जन्म का नहीं, कीर्ति या धन है,**
> **सुख नहीं, धर्म भी नहीं, न तो दर्शन है,**
> **विज्ञान, ज्ञान-बल नहीं, न तो चिंतन है,**
> **जीवन का अन्तिम ध्येय, स्वयं जीवन है।**

इस शैली को हम **परिकर** अलंकार का नाम भी दे सकते हैं। परन्तु, इस प्रकार हम इसका महत्त्व कतई घटा बैठेंगे। **यह शैली उसके यहाँ**

अलंकार बनकर नहीं आई है । और, न इसे पूरी तरह परिकर अलंकार कहा ही जा सकता है । यह शैली उसके काव्य की एक विशिष्ट शैली बन चुकी है । अपनी बात पर पूरा बल देने के लिए वह अन्य बातों का निषेध करता है । इस प्रकार इस विशेषता को उसकी शैलीगत विशेषता ही मानना चाहिए; भले ही हम आलंकारिक दृष्टि से इसे **परिकर** नाम देते रहें ।

महत्त्व—इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दिनकर जन-कवि ही नहीं हैं, और उन्होंने जन-स्तर पर रह कर विचार ही नहीं किया है, बल्कि वे अपने युग के पूरे द्रष्टा होने के साथ-साथ काव्य-युग के भी द्रष्टा और पथ-प्रदर्शक रहे हैं । उन्होंने किसी 'वाद' में फँस कर अपनी बातों के कायदे को परिवर्तित नहीं किया है । वे एक निश्चित वक्तव्य लेकर चल रहे हैं । अनेक पड़ाव उनकी यात्रा में आए हैं । **उर्वशी** उनका आकारतः गीति-नाट्य है, जिसका प्राणात्मक महत्व महाकाव्य के रूप में भी कम नहीं है । **कुरुक्षेत्र** उनका विचार-प्रधान काव्य है, जिसमें महाकाव्य के लक्षण भले ही पूरी तरह न घटें, किन्तु गुण अवश्य पूरे पूरे घट जाते हैं । **रश्मिरथी,** जीवन-परक काव्य होकर भी, सामाजिक समस्याओं को छूने वाला विचार-प्रधान महाकाव्य बन जाता है । फिर वर्णनात्मक दृष्टि से उसका प्रबन्धकाव्य रूप भी कम महत्व का नहीं है । शेष काव्यों में भी उनके जीवन का **अनल-दर्शन** बिखरा हुआ मिलता है । इस प्रकार उन्होंने काव्य के हर क्षेत्र में सिद्धहस्तता प्राप्त की है । इस पर भी उनका काव्य कहीं भी महत्वहीन नहीं हो पाया है ।

——

१४

संस्कृति : चार अध्याय या एक

दिनकर की विवेचनात्मक इतिहासपरक कृति **'संस्कृति के चार अध्याय'** का उल्लेख ऊपर बार-बार आया है। संस्कृति-दर्शन सम्बन्धी अध्याय में इसकी चर्चा हमने खुलकर की है। कवि के चिन्तन की पृष्ठभूमि के रूप में इस अप्रतिम ग्रन्थ का भी परिचय रहना चाहिए।

विषय और विभाजन—इस विशाल निरूपण को चार खण्डों में—चार अध्यायों के रूप में—विभाजित किया गया है। **प्रथम खण्ड** में भारतीय जनता की रचना और हिन्दू संस्कृति का आविर्भाव वर्णित किया गया है। **द्वितीय खंड** में प्राचीन हिन्दुत्व से विद्रोह की भावना को व्यक्त किया गया है। **तृतीय खंड** में हिन्दू संस्कृति और इस्लाम के सम्बन्धों पर विचार किया गया है। **चतुर्थ खंड** में भारतीय संस्कृति और यूरोप के सम्बन्धों पर विचार किया गया है। इनमें से प्रत्येक खण्ड कई-कई प्रकरणों में बंटा हुआ है। प्रत्येक प्रकरण एक चुने हुए प्रसंग को लेता है।

इस में कवि इतिहासकार बनकर नहीं चला है। उसकी भूमिका विवेचन और चिन्तन की रही है। प्रत्येक खण्ड में से विशिष्ट स्थल चुन कर वह उस पर अब तक किए गए सभी प्रयत्नों और अब तक स्थापित किए गए सभी मतों का उल्लेख करता है। पर उनकी विवेचना करके अपने निष्कर्ष प्रस्तुत करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। उसने अपने मतों को शुद्ध 'वैज्ञानिक तथ्य' के रूप में प्रमाण-संगत बनाने का प्रयत्न नहीं किया है। वह यहाँ भी मूलतः कवि और विचारक रहा है। अतः अपनी 'दृष्टि' देना उसका मुख्य लक्ष्य रहा है। उस दृष्टि को सतर्क और सहेतु समझाने का यत्न उसने अवश्य किया है।

कवि ने इस ग्रंथ को 'संस्कृति के चार अध्याय' के रूप में इसलिए विभाजित किया है कि उसने समग्र भारतीय इतिहास की चार क्रांतियां मुख्यतः देखी हैं। **पहली** क्रान्ति आर्यों के आगमन वेला की उसने स्वीकार की है। **दूसरी** बौद्ध और जैन धर्मों के उदय के समय की है। **तीसरी** क्रान्ति इस्लाम के सम्पर्क में आने पर उसने मानी है। और, **चौथी** को वह यूरोप के सम्पर्क में आने पर घटित मानता है।

प्रथम खंड—इस भाग को लेखक ने तीन प्रकरणों में बांटा है। मूलतः इस खण्ड में सभी प्रामाणिक ऐतिहासिक धारणाओं का उल्लेख करके कवि ने 'आर्य' और 'द्रविड़' के पारस्परिक उलझन भरे प्रश्न को समझाने का प्रयास किया है। स्वयं इतिहास इस विषय में एकांत-निर्णय नहीं दे पाया कि इन दोनों में से भारत में पहले कौन आया। एक बात स्पष्ट है कि यदि बाहर से आगमन माना जाय, तो यह बात दोनों पर लागू होती है। यहां के मूल आदिवासी तो ऑस्ट्रिक गण भी नहीं ठहरते। **मुअन-जो-दड़ो** और **हड़प्पा** की संस्कृति का भी सम्बन्ध एकान्ततः न तो आर्यों से ठहरता है और न द्रविड़ों से। लिपि और भाषा विकास के सम्बन्ध में लेखक के कुछ मत उसके अपने निष्कर्ष न होने से आपत्तिजनक हो गए हैं। पर ये अत्यन्त गौण हैं। ऐसे विषयों में लेखक को अन्य अधिकारी विद्वानों के आश्रित ही रहना पड़ा है। अन्यथा, इस अध्याय का वक्तव्य आर्य-अनार्य सम्बन्धों की विवेचना रहा है। इस विषय में कवि ने जो धारणा व्यक्त की है, वह **कल्पनामात्र** नहीं है। उसके पीछे तर्क, युक्ति और आस्था का बल है।

द्वितीय खंड—इस अध्याय का शीर्षक है 'प्राचीन हिन्दुत्व में विद्रोह। इसमें मूलतः बौद्ध और जैन धर्मों पर विचार किया गया है। सात प्रकरणों में विभक्त इस अध्याय का आरम्भ एक पृष्ठभूमि से किया गया है, जिसमें वैदिक युग से लेकर बुद्ध-युग तक की सारी बात आ जाती है। वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् आदि की सम्पूर्ण बात इसमें आ जाती है। अगले प्रकरण में लेखक ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि **जैनमत** सामान्य

हिन्दूधर्म से किस तरह अविच्छेद्य है। **सामासिक संस्कृति** का उपासक लेखक आगे चलकर यह बताता है कि किस प्रकार जैनों के 'यम-नियम' हिन्दू धर्म के अविभाज्य अंग बन गए हैं

शेष में से एक प्रकरण में बौद्ध मत के उद्भव, स्वरूप, विकास, आदि की चर्चा की गई है। एक प्रकरण में वैदिक मत से बौद्धमत की तुलना की गई है। एक में वाहरी दुनिया से भारत का सम्बन्ध वर्णित है। बौद्ध धर्म की इस विषय में प्रेरणा और प्रभाव भी यहां चर्चित हुए हैं। बौद्धों के पतन की चर्चा के प्रसंग में कवि ने कुछ दूर की बातें कही हैं। शाक्त और तान्त्रिक मतों का प्रभाव उसने व्यापकता से बाद के बौद्ध धर्म में आता हुआ पाया है। अन्तिम प्रकरण में उसने बौद्ध धर्म के सामाजिक पक्ष पर, उसके उत्थान और उसके विघटन पर, पूरी तरह विचार किया है।

बौद्ध धर्म पर विचार करते हुए लेखक की भावना मूलत: भारतीय संस्कृति को **सामासिक** मानने की ओर ही रही है। बौद्ध धर्म भारतीय प्रेक्षक के लिए कोई **बाह्य** वस्तु नहीं है। **न ही वह वैदिक धर्म के विरोध में ही उठा था।** **प्रतिक्रिया** और **विरोध** शब्दों में अन्तर है। लेखक ने यही दिखाया है वैदिक काल से भी पूर्व से, अथवा वैदिकधारा के समानान्तर, ही व्रात्य या साधकों की एक परम्परा चलती आई थी। बौद्ध आन्दोलन को ढालने में भी उसका हाथ था। 'योग' की अनेक शाखाएं, शिव का **'रस-सिद्ध'** रूप, आदि उसी धारा से चले आ रहे थे। कम से कम, लेखक की दृष्टि में, भारतीयों ने कभी भी बुद्ध और उसके आन्दोलन को **विरोधी** या **बाह्य** आन्दोलन के रूप में नहीं देखा था।

तृतीय खण्ड—इस अध्याय का मुख्य विषय है इस्लाम और हिन्दू-संस्कृति। इसमें कुल मिला कर बारह प्रकरण हैं। **उर्दू** और **सिक्ख धर्म** के प्रकरणों को छोड़ कर शेष सभी प्रकरण सीधे से इस्लाम और इस्लामी प्रभाव से संवन्ध रखते हैं। वास्तव में तो **उर्दू** और **सिक्ख-धर्म** भी इस्लामी संपर्क और प्रभाव के ही विषय बन कर वर्णित हुए हैं।

लेखक ने इस प्रसंग में धर्म, संस्कृति, भाषा, साहित्य, कला और

शिल्प, भक्ति, आदि किसी भी बात को तो नहीं छोड़ा। यहां पर स्मर्त्तव्य है कि लेखक स्वयं सारे जीवन भर राष्ट्रीयता का सेनानी अथवा सैनिक रहा है। उसने यह ग्रन्थ ही **सामासिक संस्कृति** या **समन्वयपरक संस्कृति** की भावना से प्रेरित होकर लिखा है। पर, वह इस जोश में आकर डा० ताराचंद या अन्य तथाकथित राष्ट्रीय इतिहास लेखकों के से अन्धे जोश में आकर सत्यों से विमुख नहीं हुआ है। वर्तमान शती के पूर्वार्ध में हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न इतना व्यापक रहा कि प्रायः प्रत्येक 'राष्ट्रीय' कहलाने वाले इतिहासकार ने मुस्लिम और हिन्दू संस्कृति का पारस्परिक प्रभाव एवं उनकी तुलना सत्यों से आँख मूँद कर करनी चाही है। पर लेखक इस विषय में सत्य से विमुख होना नहीं चाहता। उसने मुस्लिम प्रभाव को भक्ति, समाज, धर्म और कला में प्रायः आँख-मूँद कर स्वीकार नहीं किया है। उसका विवेचन बहुत सतर्क रहा है।

हमने अपने 'हिन्दी साहित्यानुशीलन' में **विदेशी और राष्ट्रीयता** के प्रश्न पर कुछ विचार व्यक्त किए हैं। 'दिनकर' भी मुस्लिमों को 'म्लेच्छ' या 'विदेशी' समझे जाने के वे ही कारण वताते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि इस दृष्टिकोण से राष्ट्रीयता के विकास को हानि पहुँचती है। प्रत्युत सत्य के सामने आने से किसी भी पक्ष में ऊँच-नीच की भावना न आकर सत्य का सामना करने की भावना जगती है। **एकेश्वर-वाद** का प्रभाव हिन्दुत्व पर वहुत ही कम पड़ा है। **वीर शैव मत** तक लेखक की दृष्टि में मूल रूप से भारतीय है। **आलवारों** और **शंकर** पर वह इस्लाम अथवा ईसाईमत का प्रभाव मानने को तैयार नहीं। साथ ही, दूसरी ओर **कबीर और नानक** को अतिरंजित रूप में वह भारतीय भी सिद्ध करने को तैयार नहीं; यद्यपि नानक के **सिक्ख-धर्म** को उसने तत्वतः भारतीय ही माना है।

इस प्रसंग में **अकबर और दाराशिकोह** की प्रशंसा, एवं औरंगजेब की निन्दा सकारण एवं सहेतुक हुई है। **बहाबी आन्दोलन** और **शेख अहमद सरहिन्दी** के साथ-साथ **डा० इकबाल** और **सर सैयद अहमद**

की एक ही स्तर पर विवेचना लेखक की व्यापक और क्रान्त कवि-दृष्टि का परिचय देती है। इस्लाम और हिन्दुत्व के विषय में उसकी युक्ति अंततः एक ही परिणाम पर पहुँचती है। **क्रांति की वेला में उनमें अपने मूलरूप की ओर लौटने की प्रवृत्ति अधिक रही है।** इस तथ्य को दोनों पर उसने अलग अलग ढंग से घटाकर दिखाया है।

इस प्रसंग में उर्दू भाषा पर उसके विचार मननीय हैं। किस प्रकार उर्दू का साहित्य-प्रवेश १८ वीं शती के अंत की बात है, और किस प्रकार औरंगजेब तक हिन्दी को ही साहित्य का माध्यम स्वीकार करते थे, यह बात लेखक ने सिद्ध की है। उसने उचित ही कहा है कि अट्ठारहवीं शती तक **प्रश्न, उर्दू-हिन्दी का न होकर, फारसी-हिन्दी का था।**

चतुर्थ खंड—इस अध्याय का विषय है। **भारतीय संस्कृति और यूरोप**। इसमें कुल १७ प्रकरण हैं। अंतिम तीन प्रकरण मुस्लिम-अंश से सम्बद्ध है। पहले दो प्रकरण इतिहास पर आश्रित हैं। उनमें ऐतिहासिक तथ्य अधिक हैं। तीसरे प्रकरण में ईसाई धर्म और भारतीय जनता का सम्बन्ध विवेचित है। इसमें ईसाईमत के आरंभिक भारत-प्रवेश और व्यापारियों के साथ भारत-प्रवेश में अंतर भी बताया गया है। अगले ११ प्रकरण हिन्दू नवोत्थान से सम्बन्ध रखते हैं। ब्राह्म समाज (बंगाल) और प्रार्थनासमाज (महाराष्ट्र) को लेखक 'शरमाए हुए **सूरमा**' नाम देता है। **पर तिलक को वह प्रवृत्ति-मार्ग का उद्घोषक और गीता-धर्म का आधुनिक प्रणेता मानता है।** आर्यसमाज को उसने **हिन्दू धर्म की वीर भुजा,** और स्वामी दयानन्द को **महान् क्रांतिकारी** (सुधारक नहीं), स्वीकार किया है। परमहंस रामकृष्ण को परम-संत मान कर भी, कर्म-योगी और राजर्षि का पद उसने स्वामी विवेकानन्द को दिया है, जिन्हें वह भारत के चहुँमुखी नवजागरण का उद्गाता भी स्वीकार करता है। लोकमान्य तिलक, योगिराज अरविन्द और महात्मा गांधी—ऐसे नाम हैं, जो राजनीति में परिचित होकर भी, धर्म के क्षेत्र में अत्यधिक परिचित रहे हैं। इनमें से **तिलक 'गीता-धर्म'** के उदघोषक

एवं **महात्मा गाँधी** संस्कृति-समन्वय के प्रचारक कहे गये हैं। परन्तु **योगिराज अरविन्द** ने एक नए दर्शन की भी सृष्टि की है। कवि ने अपनी कवि-दृष्टि से **अरविन्द** और **गांधी** की तुलना की है। अरविन्द-दर्शन को वह **स्वर्ग का भूमीकरण** कहता है, जबकि गांधी-दर्शन का सरल रूप वह **भूमि का स्वर्गीकरण** मानता है। स्वभावतः उसका झुकाव यथार्थ पर टिके **गांधी-दर्शन** की ओर अधिक है। पर अहिंसा पर वह अंधा हो कर असक्त नहीं है।

इस विषय में डा० राधाकृष्णन् का महत्वांकन लेखक ने जिन आधारों पर किया है, उनसे सिद्ध होता है कि कवि की अपनी सांस्कृतिक वृत्ति चारों ओर के वातावरण और संसार के प्रति खुली दृष्टि रख कर अपनी मूल आस्था को भली प्रकार समझने में हैं। इस सम्बन्ध में **प्रस्थान-त्रयी** के नए व्याख्याता के रूप में **सर्वपल्ली राधाकृष्णन्** को कवि ने जो **शंकर** की कोटि में ला बिठाया है, वह अनुचित नहीं है।

पाद टिप्पणी—इस प्रकार जनकवि दिनकर ने इस विवेचनात्मक महाकाय ग्रंथ को चार खण्डों या अध्यायों में विभक्त करके भी मूलतः एक ही सत्य का उद्घाटन किया है। यह सत्य इस रूप में है : *भारतीय संस्कृति मूलतः सामासिक है। उसे जातियों, वर्गों, धर्मों या भाषाओं के द्वारा खण्डित करके देखने का प्रयास भ्रामक है। उसने उन सभी सुधारों को आत्मसात् किया है, जो उसमें सुधार की भावना से या हितेच्छा से प्रस्तुत किए गए हैं। परन्तु उसने हर 'आक्रमण' और दबाव का मुँह तोड़ उत्तर भी दिया है। वह कमज़ोर पड़ कर भी, अवसर आते ही, फिर उठ खड़ी होती है। इसीलिए वह अमर और अजर है, चिर-नूतन और चिर-पुरातन है।*